

4/5

पौराणिक कथायें

पं० हृदयराम शर्मा



चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-१

विद्याभवन सप्तराश्रम ग्रन्थमाला



पौराणिक कथायें

लेखकः—

पं० हृदयराम शर्मा

एम० ए० एल० टी० 'साहित्यरत्न'

प्राध्यापक,

बी० डी० दूवे० इण्टर कालेज, पहाड़पुर, प्रतापगढ़



चौरखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, संवत् २०१८ वि०

मूल्य : २-५०

© The Chowkhamba Vidya Bhawan
Chowk, Varanasi-1 (India)

1961

Phone : 3076

आमुख

भारतीय पुराण शिक्षा, ज्ञान, धर्मोपदेश, अध्यात्मज्ञान एवं साहित्या-
नन्द आदि के अथाह सागर हैं। पुराणों का उक्त सन्देश पूर्णरूपेण
कथाओं द्वारा ही दिया गया है। कथाओं द्वारा उपदेश, ज्ञान एवं सन्देश
देना भारतीय पुराणों की विशेषता रही है। प्रस्तुत पुस्तक में ऐसी ही
कतिपय कथाओं का संकलन पुराणों से किया गया है जो अपना दोहरा
महत्त्व रखती हैं। प्रथम बात यह कि, ये कथायें पाठकों को शिक्षा, ज्ञान,
अध्यात्मज्ञान, धर्मोपदेश आदि पुराणों के सन्देश देती हैं। द्वितीय बात
यह कि, रोचक होने के नाते कथा और कहानी साहित्य का आनन्द देती हैं।

इस संकलन में मेरा उद्देश्य यही रहा है कि पुराणों का पुण्य सन्देश
साधारण से साधारण जनता तक पहुँच सके क्योंकि सभी पुराण मूल रूप
से संस्कृत भाषा में हैं जिन्हें साधारण शिक्षित समझ नहीं पाते। दूसरी
बात यह है कि वे इतने अथाह हैं कि लोग समयाभाव से उन्हें नहीं
पढ़ पाते। अस्तु, मैंने सर्वप्रमुख एवं अत्यन्त शिक्षात्मक, उपयोगी तथा
रोचक कथाओं का संकलन किया है।

कहानी कहना और सुनना मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। इस दृष्टि से
यह पुस्तक अत्यन्त ही उपयोगी है। इसकी भाषा भी मैंने चलती हुई

प्रचलित खड़ी बोली रखी है ताकि साधारण से साधारण पढ़े-लिखे लोग भी आनन्द ले सकें ।

विद्यार्थियों के लिये इसकी उपयोगिता विशेषरूप से है । विद्यालयों में लघु कक्षाओं से लेकर उच्चतर कक्षाओं तक के हिन्दी साहित्य के पाठ्यक्रम में आई हुई समस्त अन्तःकथाओं का वर्णन इस पुस्तक में मिलेगा । संकलन करते समय मैंने यह भी एक दृष्टिकोण रखा है ।

आशा है प्रस्तुत संकलन विद्यार्थी वर्ग एवं अन्य जनसमुदाय की साहित्यिक सेवा करने में समर्थ होगा और तभी लेखक अपने को यथेष्ट-रूपेण पुरस्कृत समझेगा ।

—लेखक

विषय क्रम

क्र. सं.	कथायें	पृष्ठ	क्र. सं.	कथायें	पृष्ठ
१	अनुसूइया	३	२२	जटायु	३८
२	अगस्त्य	४	२३	चधीचि	३९
३	अहिरावण	५	२४	द्रोणाचार्य-द्रुपद	४०
४	अम्बरीष	६	२५	द्रौपदी	४२
५	अश्वत्थामा	८	२६	दशरथ	४७
६	अजामिल	९	२७	ध्रुव	४९
७	अवधूतोपाख्यान	१०	२८	नल-दमयन्ती	५०
८	अक्रूर	११	२९	नचिकेतोपाख्यान	६४
९	आग्नीध्र	१२	३०	नहुष	६७
१०	आस्तीक	१३	३१	परीक्षित	६९
११	अहिल्या	१५	३२	परशुराम	७२
१२	कच-देवयानी	१७	३३	पाण्डव	७३
१३	कर्ण	१८	३४	प्रह्लाद	७७
१४	कुन्जा	२१	३५	पृथु	७९
१५	केवट	२२	३६	पुरञ्जनोपाख्यान	८१
१६	कुबेर	२४	३७	बलि-वामन	८३
१७	गरुड	२६	३८	ब्रह्माजी की उत्पत्ति	८५
१८	गजग्राह	३१	३९	बालि-सुग्रीव	८८
१९	गोकर्णोपाख्यान	३३	४०	बाल-लीला (कृष्ण)	९१
२०	जलंधर-घृन्दा	३६	४१	भगीरथ	१००
२१	जय-विजय	३७	४२	भीष्म	१०१

क्रं. सं.	कथायें	पृष्ठ	क्र. सं.	कथायें	पृष्ठ
४३	भृगु	१०४	६०	सती-पार्वती	१४०
४४	मत्स्यावतार	१०५	६१	सावित्री-सत्यवान्	१४६
४५	ययाति	१०८	६२	सीता	१५१
४६	रन्तिदेव	११०	६३	सुलोचना-सती	१५६
४७	राहु	१११	६४	सुपेण-वैद्य	१५७
४८	रामावतार	११२	६५	शर्मिष्ठा-देवयानी	१५८
४९	रावण	११४	६६	शन्तनु	१६१
५०	वसुदेव-देवकी (कृष्णा- वतार)	१२०	६७	शकुन्तला-दुष्यन्त	१६३
५१	वाराह अवतार	१२५	६८	शेष-पृथ्वीधारण	१६८
५२	वाल्मीकि	१२६	६९	शिवि	१६८
५३	विदुर	१२७	७०	शिशुपाल	१७२
५४	व्याध-कपोत	१२९	७१	शबरी	१७५
५५	सत्यवती-व्यास	१३०	७२	श्रवणकुमार	१७६
५६	सगर-चरित्र (गङ्गाव- तरण)	१३३	७३	हनुमान्	१७७
५७	समुद्र-मंथन (कच्छपा- वतार)	१३४	७४	हरिश्चन्द्र	१८२
५८	सुदामा-चरित्र	१३६	७५	हिस्ण्यकश्यपु-हिरण्याक्ष	१८७
५९	सुकन्या-च्यवन	१३९	७६	त्रिशङ्कु-विश्वामित्र	१९०
			७७	परिशिष्ट (कुछ ज्ञातव्य शब्दपरिचय)	१९७



पौराणिक कथायें

श्री श्री कृष्ण

अनुसूइया

सती अनुसूइया महर्षि अत्रि की पत्नी थीं। शास्त्रों और पुराणों में अनुसूइया का नाम उनके सतीत्व और पातिव्रत धर्म के लिए विख्यात है। उनके पातिव्रत से हारकर त्रिदेवों को भी नीचा देखना पड़ा था और उन्हीं तीनों देवों के अंश से भगवान् दत्तात्रेय ने अनुसूइया के यहाँ अवतार लिया था। पुराणों में यह प्रसंग इस प्रकार से आया है।

अनुसूइया के पातिव्रत धर्म की ख्याति तीनों लोकों में फैल गई थी। एक दिन भगवान् शंकर अनुसूइया के यहाँ ब्राह्मण के रूप में भिक्षा माँगने आये। जाते समय अपना पूज्य लिंग उनके दरवाजे पर छोड़ते गये। अनुसूइया ने उन्हें शंकर ही समझकर नमस्कार किया और अब उसकी पूजा करने लगीं। शंकर की पूजा और अनुसूइया के पातिव्रत धर्म से पार्वती को इर्ष्या होने लगी। अब उन्होंने लक्ष्मी और इन्द्राणी आदि से परामर्श करके नाना प्रकार के षड्यंत्रों से अनुसूइया को पथभ्रष्ट करना चाहा। जैसे, एक बार तो उन्होंने शंकर जी के गले में रहनेवाले नाग को ही भेजा था कि वह जाकर अनुसूइया के पतिदेव अत्रि को डँस ले। पर पार्वती आदि के सभी षड्यंत्र अनुसूइया के पातिव्रत बल से निष्फल हुए। अनुसूइया के स्वभाव में कोई अन्तर न आया। अन्त में पार्वती और लक्ष्मी आदि ने मिलकर तीनों देवों से अनुसूइया के तेजोबल की परीक्षा लेने की प्रार्थना की और इसके लिए उन्हें बाध्य किया।

तीनों देव ब्रह्मा, विष्णु और महेश अनुसूइया की परीक्षा लेने के लिए मृत्युलोक में उतरे। ब्राह्मण के रूप में अतिथि बनकर अनुसूइया के आश्रम पर पहुँचे। अनुसूइया ने सबका समुचित आदर-सत्कार किया और इच्छानुसार भोजन आदि कराया।

भोजन करने के बाद ब्राह्मणों ने अनुसूइया से कहा कि 'हमको अपने स्तन का दूध पिलाओ।' अनुसूइया बड़े धर्म-संकट में पड़ गई कि यदि पर-पुरुषों को स्तनस्पर्श कराती है तो पातिव्रत धर्म नष्ट होता है और यदि स्तनपान नहीं कराती तो ब्राह्मण अतिथियों की इच्छा अपूर्ण रह जाती है और आतिथ्य-सत्कार में बट्टा आता है। दोनों प्रकार से ही धर्म नष्ट होता है।

कुछ देर विचारों में डूबने-उतराने के बाद उसने पति को मन में स्मरण करके कहा—'यदि मेरा पातिव्रत धर्म अखण्ड और पवित्र है तो ये तीनों ब्राह्मण अबोध बालक बन जायें।' सती का धर्म तो विशुद्ध था ही। उसके पातिव्रत धर्म में तो आँच आई नहीं थी। देखते-देखते तीनों ब्राह्मण छः छः महीने के बालक बनकर खेलने लगे। सती अनुसूइया ने उन्हें पुत्र समझकर स्तन-पान कराया और पालने पर लिटा दिया।

इस प्रकार सती के धर्म को विशुद्ध पाकर तीनों देवों ने साक्षात् दर्शन दिया। सती ने अपने को कोटिशः धन्य मानकर उनके चरणों की दन्दना की और अपने भाग्य पर निहाल हो गयी। तीनों देवताओं ने अपना अपना अंश देकर सती अनुसूइया को एक पुत्र दिया, जो दत्तात्रेय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दत्तात्रेय तीनों देवों का अंश होने के नाते भगवान के अवतार भी कहलाये। यह है भारतीय पतिव्रता नारियों के तेजोबल का प्रभाव कि देवताओं को भी मात खानी पड़ती है। वास्तव में भारतीय धर्म यही कहता है कि स्त्रियों के भगवान तो उनके पति ही होते हैं। पति-सेवा में परायण स्त्री वास्तव में भगवान को भी प्राप्त करने में समर्थ होती है।

अगस्त्य

अगस्त्य ज्ञानी, तपोवली और सिद्ध ऋषि थे। इन्होंने अपने तपोबल से एक बार समुद्र को ही पी लिया था। कथानक इस प्रकार है—एक समय की बात है कि जब देवताओं और राक्षसों में युद्ध चल रहा था; उस समय राक्षस लोग पराजित हो; जा-जाकर समुद्र में छिपने लगे। देवता लोग बड़े विस्मय में पड़ गये। अन्त में समर्थ अगस्त्य के पास पहुँचे और समुद्र पी जाने के लिए उनसे प्रार्थना की। अगस्त्य ने समुद्र को सोख लिया और देवताओं ने राक्षसों को मार डाला।

अहिरावण

राम-रावण के युद्ध के समय की बात है कि राम की वानरी सेना से थककर रावण राम-लक्ष्मण के वध का उपाय सोचने लगा। इतने में उसने अहिरावण को याद किया। अहिरावण पाताल में रहता था। अहिरावण रावण के पास आया और रावण ने शूर्पणखा-अपमान, खरदूषण-वध, लंका-दहन आदि का वृत्तान्त सुनाया और अहिरावण से राम-लक्ष्मण के वध का उपाय पूछने लगा। अहिरावण ने कहा 'इसमें चिन्ता करने की क्या बात है। मैं उन दोनों मनुष्यों को अपने लोक में हर लाऊँगा और अपनी देवी को बलि दे दूँगा।' रावण बहुत प्रसन्न हुआ और अहिरावण वापस चला गया।

इधर अहिरावण सीधे राम-लक्ष्मण के डेरे पर पहुँचा। उसने देखा कि पूरी वानरी सेना सो रही थी। हनुमान जी पहरा दे रहे थे। अहिरावण ने माया प्रसारित की और तुरन्त विभीषण का वेष धारण कर वह द्वार पर पहुँचा। हनुमान जी ने देखा कि विभीषण हैं। फिर भी रोका। उसने कहा कि 'मैं राम की आज्ञा से बाहर गया था और अब अन्दर जा रहा हूँ।' होनी होनी थी। हनुमान ने विभीषण-वेषधारी अहिरावण की बात मान ली। अहिरावण अन्दर गया और कपट रूप से सोते हुए राम और लक्ष्मण को उठाकर आकाश-मार्ग से अपने लोक में पहुँचा।

इधर जब सभी बन्दर जगे तो देखा कि राम-लक्ष्मण ही गायब हैं। बड़ी खलबली मच गई। काटो तो किसीके बदन में खून नहीं। सभी सोचने और अनुमान लगाने लगे। उसी समय हनुमान जी ने विभीषण से रातवाली घटना का वर्णन किया। विभीषण ने कहा 'ठीक है, वह पापी अहिरावण था जो राम और लक्ष्मण को हर ले गया है। अहिरावण के सिवा मेरा वेष और कोई नहीं धारण कर सकता।' अब विचार होने लगा। विभीषण ने कहा—यदि कोई योद्धा हो तो पाताल-पुरी से जाकर राम-लक्ष्मण को ला सकता है। सब एक-दूसरे की ओर देखने लगे। अन्त में हनुमान जी तैयार हुए।

महाबली हनुमान जी किसी प्रकार पाताल-लोक पहुँचे तो देखा कि द्वारपाल मकरध्वज छाती निकाले खड़ा पहरा दे रहा है। हनुमान जी ने उसका परिचय पूछा तो उसने बताया कि मैं हनुमानजी का पुत्र मकरध्वज और अहिरावण का

द्वारपाल हूँ। उसकी बात को सुनते ही हनुमानजी स्तम्भित रह गये कि मेरे तो स्वप्न में भी कोई पुत्र नहीं हुआ। तब मकरध्वज ने बताया कि जिस समय आप लंका से आ रहे थे, उसी समय आपके बदन से पसीना चुआ और उसे एक मछली ने पी लिया। मैं उसीके गर्भ से पैदा हुआ हूँ। तब हनुमान जी ने उससे रामादि का समाचार पूछा। उसने बताया कि अहिरावण उन्हें ले आया है। पर मैं आपको अन्दर नहीं जाने दूँगा। तब दोनों (पिता-पुत्र) में युद्ध होने लगा। मकरध्वज को हनुमान जी ने बाँध दिया और स्वयं अन्दर पहुँचे। अहिरावण अपनी देवी की पूजा कर रहा था। शीघ्र ही बलि होनेवाली थी। हनुमान जी ने हल्का और नन्हा सा रूप बना लिया और फूल में बैठ गये। जैसे ही अहिरावण ने उस फूल को देवी पर चढ़ाया, देवी तो हनुमान जी के चरणों का स्पर्श करके रसातल चली गई और हनुमान जी मुँह फैलाकर देवी के स्थान पर खड़े हो गये। अहिरावण बड़ा प्रसन्न हुआ और सोचा कि आज तो देवी ने साक्षात् दर्शन दिया है। अहिरावण ने नाना प्रकार का मेवा मिष्ठान्न देवी पर चढ़ाया और हनुमान जी सब खाते गये।

समय आ जाने पर अहिरावण राम-लक्ष्मण को देवी के स्थान के पास ले गया और उसने कहा कि जिसे याद करना हो याद कर लो, अन्तिम समय निकट आ गया है। इसी समय हनुमानजी ने भीषण गर्जन किया। गर्जन सुनकर सभी राक्षस जहाँ-तहाँ भाग गये। हनुमानजी ने अहिरावण का भी वध कर डाला और राम-लक्ष्मण को लेकर चलते बने। द्वार पर आकर मकरध्वज को खोल दिया और उसे अहिरावण का राज्य सौंपकर डेरे पर आ पहुँचे। इस प्रकार अहिरावण का भी उद्धार हो गया।

अम्बरीष

अम्बरीष महाराज नाभाग के पुत्र थे। पिता के बाद राज्य के स्वामी हुए। अम्बरीष बड़े ही प्रतापी, सर्वगुणसम्पन्न, दयालु और भक्त राजा थे। उन्हें किसी भी प्रकार की कमी न थी, पर वे इतने भगवद्भक्त थे कि संसार की असार बातों के प्रति बिल्कुल उदासीन रहते थे। ईश्वर-भजन, साधुसेवा, सत्संग और प्रजापालन ही उनका मुख्य कार्य था। उनकी धर्मपत्नी भी उन्हींके समान स्वभाव

और गुणवाली थी। एक बार अपनी पत्नी सहित उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण की आराधना के हेतु द्वादशीप्रधान एकादशी व्रत रहने का नियम ग्रहण किया। व्रत की समाप्ति पर ब्राह्मणों को स्वादिष्ट भोजन कराया। ६० करोड़ गौओं का दान किया। तदुपरान्त स्वयं भी ब्राह्मणों की आज्ञा लेकर व्रत-पारण की तैयारी करने लगे। उसी क्षण शाप और वरदान देने में समर्थ दुर्वासा ऋषि आ पधारे। अम्बरीष महाराज ने उनका स्वागत किया और भोजन करने की प्रार्थना की। ऋषि ने प्रार्थना स्वीकार कर ली और निवृत्त होने के लिए यमुना-तट पर चले गये। स्नान-तर्पण आदि में काफी विलम्ब हुआ। इधर द्वादशी केवल घड़ी-भर शेष रह गई और ऋषि वापस नहीं आये। राजा बड़े धर्मसंकट में पड़े और ब्राह्मणों से परामर्श किया कि 'द्वादशी रहते हुए पारण न करना तथा ब्राह्मण दुर्वासा जी को बिना भोजन कराये खा लेना—दोनों ही पाप हैं'। अन्त में निश्चय हुआ कि जल पी लेना भोजन नहीं है। अतएव राजा ने केवल जल पीकर ऋषि महोदय की प्रतीक्षा प्रारम्भ कर दी।

अम्बरीष की भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान ने अम्बरीष की रक्षा के लिए चक्र-सुदर्शन को नियुक्त कर रखा था। इधर जब दुर्वासा जी वापस आये तो अम्बरीष ने प्रणाम किया। दुर्वासा ने अनुमान से जान लिया कि अम्बरीष ने बिना उन्हें भोजन कराये पारणा कर ली। दुर्वासा जी बहुत भूखे थे, अतएव क्रोध से लाल हो गये और अपनी जटा से एक बाल उखाड़कर फेंका और उससे एक कृत्या उत्पन्न हुई, जो आग के समान दहकने लगी और तलवार लेकर अम्बरीष को मार डालने के लिए उनपर टूट पड़ी। किन्तु अम्बरीष तनिक भी विचलित न हुए और अपनी जगह पर खड़े रहे। परमपिता परमात्मा ने पहले से ही राजा की रक्षा के लिए चक्र को नियुक्त कर रखा था। चक्र-सुदर्शन आ पहुँचा और क्षणभर में उसने दुर्वासा की कृत्या को भस्म कर डाला। और इसके बाद दुर्वासा की ओर मुड़ा। दुर्वासा ने यह देखकर अपनी जान बचाने के लिए भागना प्रारम्भ किया। चक्र-सुदर्शन ने उनका पीछा किया। आकाश, पाताल, पृथ्वी, समुद्र, स्वर्ग—जहाँ भी दुर्वासा ऋषि गये, चक्र ने वहाँ-वहाँ उनका पीछा किया; तब वे ब्रह्मा तथा महादेव के पास रक्षा के लिए पहुँचे। दोनों देवों ने कहा कि 'हम भगवान के द्रोही की रक्षा करने में असमर्थ हैं। अब तो भगवान

ही आपका कल्याण कर सकते हैं। इसलिए अब उन्हींकी शरण में जाओ। अन्त में निराश होकर दुर्वासाजी भगवान के परमधाम वैकुण्ठ पहुँचे और भगवान के चरणों पर गिर पड़े तथा अपना अपराध स्वीकार करते हुए उन्होंने क्षमा माँगी। भगवान ने उत्तर दिया 'मैं सर्वथा अपने भक्तों के अधीन हूँ, इसलिए उनका अनिष्ट करनेवालों की रक्षा मुझसे न होगी। हाँ, एक उपाय है। आप अम्बरीष से ही क्षमा माँगिये, तभी आपका कल्याण हो सकता है। बाध्य होकर दुर्वासाजी अम्बरीष के पास आये और दुःखी हो अम्बरीष के पैरों पर गिर पड़े और क्षमा माँगी। अम्बरीष ने लजित होकर उन्हें उठाया और उनका चरण-स्पर्श करके उनकी दुःख-निवृत्ति के लिए चक्र-सुदर्शन की स्तुति करने लगे। उनकी स्तुति से चक्र-सुदर्शन शान्त हुआ और दुर्वासाजी अग्नि से मुक्त हुए। इस प्रकार अम्बरीष से प्रसन्न हो उन्हें अन्यान्य आशीर्वाद देकर दुर्वासाजी ने ब्रह्मलोक की यात्रा की।

यहाँ इस प्रकार एक वर्ष व्यतीत हो गया, किन्तु अम्बरीष ने अभी तक भोजन नहीं किया। केवल जल पीकर रहे और दुर्वासाजी के दर्शन की प्रतीक्षा करते रहे।

यह है भगवान की भक्तवत्सलता। भक्तों के लिए भगवान अपना नियम भी बदल सकते हैं। भक्त की रक्षा और सम्मान के लिए भगवान क्या नहीं कर सकते? जो ब्राह्मण-शाप कभी कहीं रोका नहीं जा सकता, निष्फल नहीं हो सकता था, वह भी अम्बरीष का स्पर्श न कर सका।

अश्वत्थामा

अश्वत्थामा गुरु द्रोणाचार्य जी का पुत्र था। वह बड़ा ही आततायी और जघन्य कार्य करनेवाला था। एक समय महाभारत के युद्ध में जब भीमसेन की गदा के प्रहार से दुर्योधन की टाँग टूट चुकी थी, तब अश्वत्थामा ने अपने स्वामी दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए बड़ा जघन्य कार्य किया। उसने द्रोपदी के घर जाकर उसके सोते हुए पुत्रों का सिर काट डाला और सिरों को ले जाकर दुर्योधन को भेंट किया। माता द्रोपदी अत्यन्त दुखी हुई। उन्हें सान्त्वना देते हुए अर्जुन ने कहा कि 'हे कल्याणी! मैं उस आततायी ब्राह्मण का सिर काटकर तुम्हारे पास लाऊँगा और उसीपर खड़ी होकर तुम स्नान करोगी।'।

अर्जुन ने इसके बाद अपने मित्र भगवान श्रीकृष्ण से सलाह करके उन्हें सारथी बनाकर अश्वत्थामा का पीछा किया। अश्वत्थामा भागा। जब उसने देखा कि वह विलकुल थक गया और बच नहीं सकता तो उसने ब्रह्मास्त्र छोड़ा, यद्यपि वह ब्रह्मास्त्र को लौटाना न जानता था। उसके छूटते ही आकाश में प्रचण्ड तेज फैल गया और अर्जुन के प्राण संकट में पड़ गये। किन्तु भगवान की आज्ञा से अर्जुन ने भी ब्रह्मास्त्र छोड़ा। दोनों अस्त्र भिड़ गये। प्रलय-सा भीषण आक्रोश हुआ। विनाश की स्थिति देख भगवान की अनुमति से अर्जुन ने दोनों वाणों को लौटा लिया।

अब अश्वत्थामा को अर्जुन ने पशु की तरह पकड़कर बाँध लिया परन्तु गुरुपुत्र होने के नाते अर्जुन को दया आ गई और उसे शिविर तक ले आये। उसे देख द्रोपदी को भी दया आ गई और उसे छोड़ देने की इच्छा प्रकट की। इस प्रकार अश्वत्थामा का प्राण बच गया; किन्तु उसके सिर की मणि वालों सहित अर्जुन ने तलवार से उतार ली। इस प्रकार अब वह विलकुल निस्तेज हो गया।

अजामिल

कान्यकुब्ज (कन्नौज) नगर में किसी समय एक ब्राह्मण रहता था। वह अत्यन्त दुराचारी और व्यभिचारी था। उसका संबंध एक दासी से हो गया था, जिससे उसका आचरण विलकुल ही भ्रष्ट हो गया था। चोरी, व्यभिचार, अन्याय, हत्या, लुटमार तथा अन्यान्य निन्दित एवं जघन्य कार्यों में ही वह व्यस्त रहता था। दासी के बच्चों में ही वह सदा मस्त रहा करता था। उसके दस बेटे थे। सबसे छोटे का नाम 'नारायण' था। पाप कर्मों में लीन वह अपना जीवन बिता रहा था। इस प्रकार अट्ठासी वर्ष बीत गये। मौत का समय आ पहुँचा। अजामिल अपने छोटे बच्चे 'नारायण' को बहुत प्यार करता था तथा उसी में सदा मग्न रहता था।

मृत्यु निकट आ गई। अजामिल विलकुल असहाय हो गया। उसने देखा कि यम के दूत उसके चारों ओर भयावनी सूरत लिये खड़े हैं। वह भय से व्याकुल

होकर अपने वेटे नारायण का नाम लेकर चिल्लाने लगा। भगवान के पार्षदों ने देखा कि अजामिल मरते समय भगवान का स्मरण कर रहा है। उनके नाम का 'नारायण नारायण' कीर्तन कर रहा है। पार्षद घेग से वहाँ पहुँच गये और देखा कि यमदूत अजामिल के प्राण खींच रहे हैं। देवदूत यमदूतों को रोकने लगे। यमदूतों ने कहा—इसने बड़ा पाप किया है, इसका प्रायश्चित्त इसे करना होगा। देवदूतों ने कहा—कुछ भी हो, मरते समय इसने ईश्वर का नाम ले लिया है, अब यह स्वर्गधाम का अधिकारी हो गया है। बड़े तर्क-वितर्क के बाद देवदूतों की विजय हुई और अजामिल के सब पाप नष्ट हो गये। अब वह उन पार्षदों के साथ स्वर्ग चला गया।

यह है भगवान के नाम की महिमा। सदा का पापी अजामिल अनजान में भी 'नारायण' अर्थात् भगवान का नाम ले लेने के कारण स्वर्गधाम को प्राप्त हुआ। भगवान के नाम का कीर्तन मात्र भी पापों को नष्ट कर सकता है।

अवधूतोपाख्यान

अवधूत का अर्थ है—ऐसा व्यक्ति जो न कुछ करता है, न कुछ चाहता है, जिसका न कोई धर्म हो, न कर्म हो, जिसका मन संसार की समस्त वासनाओं से मुक्त हो। जो बिल्कुल ही विरक्त हो। महापुराण भागवत में एकादश स्कन्ध में ऐसे ही अवधूत ब्राह्मण त्रिकालदर्शी दत्तात्रेय का प्रसंग आया है। महाराजा यदु से अवधूत ब्राह्मणदेव को भेंट होती है। यदु महाराज उनके विराग एवं आत्मानन्द का परिचय पूछते हैं। ब्राह्मण देवता उत्तर देते हैं कि 'मैंने अपनी बुद्धि से २४ गुरुओं का आश्रय लिया है और उन सबसे कुछ न कुछ शिक्षा ग्रहण की है। उनका विवरण इस प्रकार है। पृथ्वी से मैंने दान और धैर्य सीखा। वायु से मैंने निर्लिप्तता और शुद्धता सीखी। जल से मैंने स्वच्छता और निर्मलता सीखी। अग्नि गुरु ने मुझे पवित्रता धारण करने की क्षमता सिखायी। इसीलिए अग्नि को पादक कहते हैं। चन्द्रमा गुरु ने मुझे सदा एक रहना सिखाया। सूर्य ने सिखाया कि जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी का जल खींचते हैं और समय आने पर पुनः बरसा देते हैं, उसी प्रकार योगी को भी विषयों को ग्रहण करना तथा समय आने पर उनका दान कर देना।

चाहिए। एक कबूतर भी मेरा गुरु है। उससे भी मैंने शिक्षा ग्रहण की है। मनुष्य को अपने बाल-बच्चों और कुटुम्ब में अत्यधिक आसक्त और लिप्त न होना चाहिए, अन्यथा वह उन्हींमें मिट जायगा और ईश्वर की कृपा-भक्ति से वंचित रह जायगा। अजगर ने मुझे शिक्षा दी कि साधक को चाहिए कि अजगर की भाँति बिना प्रयत्न और इच्छा के जो मिल जाय, उसीपर सन्तोष करे। समुद्र से मैंने सीखा है कि साधक को समुद्र की भाँति अथाह भाववाला तथा गंभीर होना चाहिए। पतंगों से भी मैंने सीखा है कि योगी को पतंगों की भाँति स्त्री में अत्यधिक आसक्ति न दिखानी चाहिए। जिस प्रकार पतंग दीपक के प्रेम में आसक्त होकर मिट जाता है, उसी प्रकार पुरुष स्त्री में आसक्त होता है। मधुमक्खी से भी मुझे शिक्षा मिली है। मधुमक्खी शहद एकत्र करती है। उसका न तो भोग करती है और न दान करती है। परिणाम यह होता है कि लुटेरे छत्ता ही गायब कर देते हैं। यही दशा मनुष्य के धन की होती है। अतएव साधक को संचय न करना चाहिए। हाथी ने मुझे शिक्षा दी है कि जिस प्रकार जंगल में हाथी बनावटी हथिनी पर आसक्त होकर शिकारी द्वारा गड्ढे में फँस जाता है, उसी प्रकार मनुष्य भी है। उसे दुनिया की माया में न फँसना चाहिए। इसी प्रकार मैंने चौबीस गुरु बनाये हैं और सबसे कुछ न कुछ शिक्षा ग्रहण की है।' इस प्रकार दत्तात्रेय अवधूत के उपदेशों को सुनकर यदु महाराज बड़े प्रसन्न हुए और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके तथा पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करके समदर्शी हो गये और समस्त आसक्तियों से छुटकारा पा गये।

अक्रूर

अक्रूर यदुवंशी श्वफल्क के पुत्र थे। मथुरा में रहते थे। सम्बन्ध में श्रीकृष्ण के चाचा लगते थे। जब भगवान द्वारा अष्टासुर आदि अनेक राक्षसों एवं वीरों का संहार हो चुका, तभी नारद जी ने कृष्णलीला का मर्म कंस को समझाया। अब कंस को निश्चय हो गया कि उनको मारनेवाला तो नन्द बाबा के यहाँ लीला कर रहा है। तब वे अक्रूर को गोकुल जाने और छल करके कृष्ण

और बलराम को रथ पर बैठाकर मथुरा लाने का आदेश देते हैं। अक्रूर भगवान के दर्शन की लालसा से गोकुल जाने को तैयार हो जाते हैं।

रास्ते में भगवान की लीला और महिमा के सम्बन्ध में नाना प्रकार की कल्पनाएँ करते हुए नन्दधाम पहुँचते हैं। वहाँ पहुँचने पर कृष्ण-बलराम और नन्द द्वारा अक्रूर जी का पर्याप्त स्वागत होता है। भगवान का दर्शन पाकर अक्रूर जी गद्गद हो जाते हैं। कृष्ण के पूछने पर अक्रूर जी वहाँ अपने आने का साफ-साफ कारण बता देते हैं। यह समाचार फैल जाता है कि कल श्रीकृष्ण और बलराम मथुरा नगरी देखने जायँगे। दूध, दही इकट्ठा होने लगता है। नैयारी होने लगती है। सभी तो प्रसन्न हैं, पर गोपियाँ कृष्ण के भावी विरह की बात सोचकर ध्याकुल हो रही हैं।

इस प्रकार अक्रूर जी श्रीकृष्ण और बलराम जी को कंस के दरबार में लाने का कार्य करते हैं। अक्रूरजी परम ज्ञानी तथा भगवान के परम भक्त थे। वे जानते थे कि कंस श्रीकृष्ण एवं बलराम का कुछ न बिगाड़ सकेगा। तभी उन्हें किसी प्रकार संकोच न हुआ। इस प्रकार कृष्ण-लीला में अक्रूर जी का भी महत्वपूर्ण स्थान है।

आग्नीध्र

आग्नीध्र परमयशस्वी और ऐश्वर्यशाली महाराजा प्रियव्रत के पुत्र थे। आग्नीध्र भी उन्हींके समान यशस्वी हुए। एक बार आग्नीध्र पितृलोक की कामना से पुत्रप्राप्ति के हेतु पूजा की सब सामग्री जुटाकर सुर-सुन्दरियों के क्रीडास्थल मन्दराचल की एक घाटी में गये और एकाग्र चित्त हो ब्रह्मा की आराधना करने लगे। ब्रह्माजी ने राजकुमार आग्नीध्र की अभिलाषा को भाँप लिया और तुरन्त एक सुन्दरी गायिका पूर्वचित्ति नामक अप्सरा को भेज दिया। अप्सरा ने जाकर अपने हाव-भाव, कुच-कलश, पादविन्यास एवं कटाक्षों द्वारा राजकुमार का ध्यान आकर्षित किया तथा उनके मन में कामदेव की जागृति की। आग्नीध्र पूर्ण आसक्त हो गये और अप्सरा को अपना जीवन-साथी बनाने को तैयार हो गये। अप्सरा प्रसन्न हो गई और इस प्रकार दोनों ने पति-पत्नी का जीवन बिताना प्रारम्भ किया। समय आने पर आग्नीध्र ने

एक हजार वर्षों के विलास में, पूर्वचित्ति के गर्भ से नौ पुत्रों की उत्पत्ति की। इस प्रकार ब्रह्माजी ने आग्नीध्र की लालसा पूरी की। अप्सरा पुनः अपने लोक को लौट गई। पितृमृण से मुक्त होकर आग्नीध्र ने राज्य पुत्रों को सौंप दिया और स्वयं वैदिक कर्मों द्वारा इच्छित लोक की प्राप्ति की।

आस्तीक

आस्तीक का नाम साधारण जनसमुदाय में काफी प्रचलित है। प्रायः जब लोग कोई ऐसा कार्य करने चलते हैं, जिसमें विधैले जन्तुओं के उपस्थित होने की सम्भावना रहती है तो 'आस्तीक' की जय अवश्य मना लेते हैं। शायद वे यह जानते हैं कि आस्तीक का नाम ले लेने से साँप-बिच्छू आक्रमण न करेंगे। बात सत्य भी है।

आस्तीक के जन्म के सम्बन्ध में महाभारत के आदिपर्व में ऐसा प्रसंग आया है कि पूर्व समय में एक जरत्कार ऋषि थे। वे ब्रह्मचारी और थोड़ा आहार करनेवाले तपस्वी, धर्मतत्त्वज्ञाता और संयमी थे। संयम से ही उनका शरीर बहुत क्षीण हो गया था; किन्तु तेज फिर भी जाज्वल्यमान था। भ्रमण करते हुए उन्होंने एक दिन जंगल में देखा कि कुछ व्यक्ति एक पेड़ की डाल से बँधे हुए उलटे लटके हुए हैं। जरत्कार के इसका कारण पूछने पर उन लोगों ने उत्तर दिया—'भैया, हम यायावर नाम के ऋषि हैं। हमारे वंश के आगे चलने की आशा नहीं है, इसीलिए हमारी यह अधोगति हुई है। हमारे वंश में केवल एक ही व्यक्ति अभागा बचा है, जिसका नाम जरत्कार है और वह ब्रह्मचर्य और तपस्या में लगा है। बिना वंश चले हमारा उद्धार नहीं हो सकता।' जरत्कार ने उत्तर दिया 'वह अभागा तो मैं ही हूँ। मैं विवाह चाहता नहीं हूँ, पर आपके उद्धार के लिए अवश्य विवाह करूँगा, किन्तु उसी कन्या से जो मेरे ही नाम की हो और जिसे उसके माँ-बाप अपनी इच्छा से मुझे सौंप दें।' इसके बाद जरत्कार स्त्री की खोज में विचरने लगे। संयोगवश वासुकि नाग ने अपनी बहिन जरत्कार को उन ऋषि महोदय को सौंप दिया, जिसके गर्भ से आस्तीक का जन्म हुआ।

आस्तीक ऋषि थे। बड़े उदार, तपस्वी, ज्ञानी, वेद-वेदांगज्ञाता, महात्मा

और माता-पिता के दुःख को हरनेवाले थे । एक समय जरत्कारु अपनी पत्नी पर क्रुद्ध होकर उसे छोड़कर चले गये, जिससे आस्तीक की माँ अपने भाई वासुकि नाग के यहाँ ही रहने लगी । वहीं पर आस्तीक का पालन-पोषण हुआ ।

वासुकि की बहिन का विवाह ऋषि जरत्कारु से इसीलिए किया गया था कि उनसे पुत्र उत्पन्न हो, जो नागों की माता के शाप से उन्हें मुक्त कर सके । एक बार नागों की माँ ने अपने पुत्रों को शाप दिया था कि 'तुम सभी जनमेजय के नाग-यज्ञ में मरम हो जाओगे' । इस शाप से बचने के लिए ही ब्रह्माजी ने यह उपाय बताया था कि वासुकि नाग की बहिन जरत्कारु का ऋषि जरत्कारु से विवाह होगा । उनसे जो पुत्र उत्पन्न होगा, वही साँपों की इस शाप से रक्षा कर सकेगा । इसीलिए जरत्कारु का विवाह ऋषि से हुआ और आस्तीक ऋषि पैदा हुए ।

आस्तीक को नागों को भस्म होने से बचाना था । जब जनमेजय का यज्ञ प्रारम्भ हुआ और अन्यान्य नाग अग्नि में गिर-गिरकर भस्म होने लगे तो आस्तीक की माता ने उनसे यज्ञ समाप्त करवाने को कहा । आस्तीक जनमेजय की यज्ञशाला में पहुँचे । अन्यान्य प्रकार से यज्ञ एवं राजा की प्रशंसा की । राजा प्रसन्न हुए और आस्तीक से वर माँगने को कहा । आस्तीक ने यही वर माँगा कि 'महाराज ! यह यज्ञ अब समाप्त किया जाय, जिससे हमारे मामा, नाना नागों का कल्याण हो सके' । राजा ने इसे पसन्द न किया, पर वचनबद्ध थे । इसलिए वरदान स्वीकार किया और यज्ञ बन्द हो गया । तत्काल तथा अन्य साँपों के प्राण बचे । इससे वासुकि नाग तथा अन्य साँपों ने प्रसन्न होकर आस्तीक से वर माँगने को कहा । आस्तीक ने कहा 'जो कोई भी किसी समय मेरी इस कथा का स्मरण करे, उसे नागों का भय न हो ।' साँपो ने प्रसन्न होकर कहा "जो कोई भी व्यक्ति किसी भी समय यह कहेगा कि 'हम आस्तीक ऋषि का स्मरण करते हैं, इसलिए हे नाग ! हमें न काटो' तो उस व्यक्ति को कोई भी विषधारी कुछ भी कष्ट न दे सकेगा और जो सर्प इस पर भी उसे काट लेगा तो तुरन्त उस सर्प का सिर फट जायगा और वह मर जायगा ।" यही कारण है कि जहाँ पर विषधरों का भय होता है, लोग आस्तीक का स्मरण करते हैं ।

अहिल्या

अहिल्या महर्षि गौतम की धर्मपत्नी थीं। गौतम बड़े तपस्वी और सिद्ध महात्मा थे। इन्द्र को यह देखकर सहा न गया। उन्होंने गौतम के तप को क्षीण करने का उपक्रम किया। एक दिन इन्द्र ने मुर्गे की आवाज आधी रात के समय ही दे दी। गौतम नित्य चार बजे प्रातः गंगास्नान को जाया करते थे। मुर्गे की आवाज सुनकर यह समझकर कि चार बज गया, नदी की ओर चल दिये। इस ओर मौका पाकर इन्द्र गौतम की कुटी में पहुँचे। गौतम-पत्नी अहिल्या आश्रम में अकेली थी। इन्द्र गौतम का रूप धारण करके अहिल्या के पास पहुँचे और उससे सम्भोग की इच्छा प्रकट की। गौतम-पत्नी अहिल्या ने समझ लिया कि देवराज इन्द्र ही मेरे पति के रूप में आये हैं और मुझसे रतिदान माँग रहे हैं। वह अपने को धन्य मान गई और तुरन्त उसका भी मन डोल गया। इन्द्र ने अहिल्या के साथ छद्मवेष में सहवास किया और बाहर निकले।

इधर जब गौतम गंगाजी पर पहुँचे तो देखा कि गंगाजी अभी सो रही थीं और नहाने का समय अभी नहीं हुआ था। गौतम को बड़ा आश्चर्य हुआ। किन्तु उन्होंने अपने योग-बल से सब कुछ जान लिया और मन ही मन इन्द्र पर कुपित होकर आश्रम वापस आये। यहाँ आकर देखा कि इन्द्र गौतम के ही रूप में कुटी से बाहर आ रहे थे। उनके कुकर्म को तो मुनि पहले ही समझ गये थे। कुपित होकर शाप दिया कि 'तुमने मोहवश जो कुकर्म किया है, तुम्हारा अण्डकोष नष्ट हो जाय।' शाप पड़ते ही इन्द्र का अण्डकोष भूमि पर गिर पड़ा और वे नपुंसक हो चले। इधर मुनि का क्रोध अभी शान्त न हुआ। अब वे पत्नी की ओर मुड़े। अहिल्या भय के मारे पीली पड़ गई। मुनि ने उसे भी शाप दिया कि 'तुमने जो कुकर्म जान-बूझकर किया है, उसके फलस्वरूप तू पत्थर हो जा'। शाप सुनते ही अहिल्या के होश उड़ गये। मुनि के चरणों पर गिर पड़ी और गिड़गिड़ा कर बोली, 'हे प्रभु, इस शाप से उद्धार का भी तो उपाय बताइये।' मुनि ने कहा 'हाँ, त्रेतायुग में जब श्रीरामचन्द्र जी वन को जाते समय अपने चरणों से तुम्हारा स्पर्श करेंगे तो तुम पुनः अपना रूप प्राप्त करोगी और स्वर्गधाम में मेरे पास पहुँच जाओगी। इसीलिए वन जाने पर जब

राम-लक्ष्मण विश्वामित्र के साथ मिथिला स्वयंवर को जा रहे थे, तब उन्होंने शिला का स्पर्श करके अहिल्या का उद्धार किया।

अहिल्या साक्षात् ब्रह्मा की रची हुई नारी-सौन्दर्य की प्रतीक थी। ब्रह्मा ने जब सृष्टि रची तो उसी समय उनके संकल्पमात्र से ही कुछ ऐसी सन्तानें उत्पन्न हो आयीं, जिनमें आपस में कोई भेद न था। उनमें विलकुल समान रूप और गुण पाये गये। ब्रह्माजी यह कौतुक देखकर बड़े आश्चर्य और चिन्ता में पड़ गये। कुछ देर तक सोचने के बाद उन्होंने उनकी वृद्धि के लिए एक स्त्री को जन्म दिया। समस्त प्राणियों का सार भाग निकालकर उन्होंने परम सुन्दरी अहिल्या को जन्म दिया था। अहिल्या का नाम भी कुछ विशेष अर्थ से ही पड़ा था। विकृत रूप को 'हल' कहते हैं और जो 'हल' अर्थात् विकार से उत्पन्न हो, उसे 'हल्य' कहते हैं। और जिसमें हल्य अर्थात् विकार और विलपता न हो, उसे अहल्य कहते हैं। कोई भी विकार और विरूपता न होने के कारण 'अहल्य' सबसे सुन्दरी नारी थी। उसके सौन्दर्य की समता का कोई वर न मिलने के कारण ब्रह्माजी ने उसे थाती के रूप में गौतम ऋषि को सौंप दिया था। इन्द्र ने उसी समय ब्रह्माजी से कहा कि यह स्त्री हमें दे दीजिये। काफी समय बीत जाने के बाद गौतम ने उस अहिल्या अर्थात् ब्रह्मा की थाती को पुनः ब्रह्मा जी को सौंप दिया। कुछ दिनों बाद गौतम ऋषि की तपसिद्धि और स्थिरता पर विचार करके ब्रह्मा ने अहिल्या को फिर गौतम को उनकी भार्या (स्त्री) के रूप में दे दिया। उस समय से अहिल्या गौतम की पत्नी बन गई। इन्द्र से अब भी न रहा गया। उन्होंने धोखे में उसका पातिव्रत नष्ट किया। गौतम ने उन्हें उचित शाप देकर उचित दण्ड दिया। गौतम ने इन्द्र को फटकारा 'तूने पराई स्त्री के साथ भोग करने के कुकर्म को जन्म दिया। इससे पहले ऐसा कुकर्म पृथ्वी पर नहीं था। इसलिए यह तेरा कर्म देवों के योग्य न होकर मनुष्यों के योग्य है। अस्तु, यह प्रथा आज से मृत्यु-लोक अर्थात् मनुष्यलोक में चलेगी और इस कुकर्म के करने का आधा पाप उस करनेवाले पर पड़ेगा और आधा तुम्हारे (इन्द्र के) ऊपर।' इधर अहिल्या को भी गौतम ने डाँटा 'तू ही अकेली पृथ्वी पर रूपवती है। तेरे रूप के कारण ही इन्द्र ने ऐसा नीचकर्म किया है। इसलिए अब ऐसा न

होगा । अब तेरा रूप प्रजामात्र में बँट जायगा ।' तभीसे प्रजा विशेष रूप से रूपवती होने लगी । इसी नीच कर्म और गौतम ऋषि के शाप के फलस्वरूप इन्द्र को रावण के हाथों हारना पड़ा था । रावण ने इन्द्र को जीत लिया, उसके बेटे मेघनाद ने इन्द्र को कैद कर लिया । तभी से उसका नाम इन्द्रजित् पड़ा ।

श्रीरामचन्द्रजी के स्पर्श से शाप से पत्थर बनी अहिल्या फिर वास्तविक अहिल्या बन गई । उसने नाना प्रकार से भगवान की पूजा की और फिर भगवान के आशीर्वाद से वह अपने पति के धाम चली गई ।

कच-देवयानी

कच देवगुरु बृहस्पति के पुत्र थे । एक समय देवों और राक्षसों में संग्राम चल रहा था । देवों के गुरु थे बृहस्पति और राक्षसों के गुरु थे शुक्राचार्य । शुक्राचार्य को सञ्जीवनी विद्या सिद्ध थी । इस विद्या के बल से वे युद्ध में मरने वाले सभी राक्षसों को जिला लिया करते थे । इधर जो देवता मर जाते, वे तो मर ही जाते थे । इस प्रकार देवताओं की सेना क्षीण होती गई और राक्षस उतने के उतने ही रहे और देवगण हारने लगे । यह देख सभी देवताओं ने कच से निवेदन किया कि तुम जाकर शुक्राचार्य से सञ्जीवनी विद्या सीख आओ । कच तैयार हो गये ।

सञ्जीवनी विद्या सीखने के लिए कच शुक्राचार्य के आश्रम पर पहुँचे और अपना परिचय दिया । शुक्राचार्य ने कच की प्रार्थना स्वीकार कर ली और अब कच ब्रह्मचारी के रूप में शुक्राचार्य की सेवा करने लगे । इधर राक्षसों को पता चल गया कि कच सञ्जीवनी विद्या सीखने आया है । अब वे उसके पीछे पड़ गये ।

गुरु के आश्रम पर ही उनकी परम सुन्दरी कन्या देवयानी भी रहती थी । उसका कच पर कांफी अनुराग हो गया । दोनों साथ-साथ रहने लगे । देवयानी कच को जी-जान से चाहने लगी । कच भी गुरुपुत्री-भाव से देवयानी की सेवा करने लगा ।

एक दिन कच गऊ चराने जङ्गल में गया । राक्षसों ने उसे वहीं मार डाला और उसकी हड्डियाँ इधर-उधर बिखेर दी । जब शाम हो गई और कच वापस २ पौ. क.

न आया तो देवयानी बड़ी चिन्तित हुई। उसे मालूम हो गया कि राज्ञसों ने अवश्य कच को मार डाला है। उसने पिताजी से कहा—‘पिताजी, राज्ञसों ने कच को अवश्य मार डाला। अब उसे जिलाइये। मैं उसके बिना जिन्दा नहीं रह सकती।’ शुक्राचार्य पुत्री को बहुत मानते थे और उसकी बात टाल न पाते थे। उन्होंने अपनी विद्या से कच को जिला लिया।

दूसरी बार फिर जब कच जङ्गल में लकड़ी लाने गया तो फिर राज्ञसों ने उसे मारकर समुद्र में फेंक दिया। इस बार भी देवयानी के आग्रह पर शुक्राचार्य ने कच को जिला लिया। इसी प्रकार कई बार राज्ञसों ने कच का नाश किया और हर बार देवयानी ने पिता द्वारा कच को जिलवाया।

अन्त में राज्ञसों ने एक बार कच को मारकर उसकी भस्म बना डाली और उस राख को मदिरा में मिलाकर स्वयं शुक्राचार्य को ही पिला दिया। इस बार भी देवयानी ने हठ किया। शुक्राचार्य ने कच को बुलाया तो कच उनके पेट के अन्दर से धीरे से बोले। अब तो समस्या बड़ी कठिन हो गई। बिना शुक्राचार्य का पेट फाड़े कच बाहर नहीं आ सकते थे और पेट पाड़ने का अर्थ था शुक्राचार्य की मृत्यु। अब तो शुक्राचार्य को कच को विद्या देनी ही पड़ी। उन्होंने कच को संजीवनी विद्या सिखा दी और कहा—‘तुम हमारा पेट फाड़कर निकल आओ और बाहर आकर फिर हमें जिला दो।’ कच ने वैसा ही किया। विद्या पा जाने के बाद कच ने जाने के लिए विदा ली। इधर देवयानी वर्षों से आस लगाये बैठी थी। उसने कच से विवाह का प्रस्ताव किया। कच बड़े धर्म-संकट में पड़ा। उसने कहा—‘हम और आप एक ही उदर से उत्पन्न भाई-बहन हो गये हैं। गुरु-शिष्य और गुरु-पुत्री के नाते से भी हम और आप भाई-बहन हैं। भला अब हममें पति-पत्नी का सम्बन्ध कैसे हो सकता है। यह सर्वथा असम्भव है।’ देवयानी की हार हुई। इस पर उसे क्रोध आ गया और उसने शाप दिया कि—‘हे कच, आप मुझे निराश कर रहे हैं तो मैं शाप देती हूँ कि सञ्जीवनी विद्या का प्रयोग आप न कर सकेंगे। वह आपके लिए निष्फल सिद्ध होगी अर्थात् आप उसका उपयोग न कर पायेंगे।’ कच को भी इस अन्याय और जबरदस्ती पर क्षोभ हुआ और उसने भी शाप दिया कि—‘जाओ, तुम्हें अब ब्राह्मण पति न मिलेगा।’ शाप भूठ नहीं हो सकते थे। शाप के फल-

स्वरूप ही कच की विद्या निष्फल हुई और देवयानी का विवाह क्षत्रिय राजा ययाति से हुआ ।

कर्ण

कर्ण कुन्ती के पुत्र और पाण्डवों के बड़े भाई थे । किन्तु इनका जन्म बड़े विचित्र और अनुचित ढंग से हुआ था । इसलिए कुन्ती ने इन्हें जन्म लेते ही त्याग दिया था । इनका पालन-पोषण विचित्र ढंग से हुआ था । कर्ण के जन्म के सम्बन्ध में इस प्रकार कथा प्रचलित है ।

राजा कुन्तिभोज ने एक लड़की को अपनी पुत्री की तरह पाला था । एक दिन दुर्वासा ऋषि कुन्तिभोज के यहाँ आये । कुन्ती ने उनकी काफी सेवा की । दुर्वासा उसकी सेवा से बहुत प्रभावित तथा प्रसन्न हुए । उन्होंने उसे वर दिया कि 'तुम जिस देवता को मन्त्र पढ़कर बुलाओगी, वह आ जायगा और तुम्हें सन्तान प्रदान करेगा ।' कुन्ती ने लड़कपन के कारण इस मन्त्र की परीक्षा लेनी चाही । उसके लिये उसने सूर्य भगवान का आवाहन किया और सूर्य नारायण उसी क्षण आ पहुँचे । कुन्ती को बड़ा आश्चर्य और भ्रम हुआ । किन्तु सूर्य का आना निष्फल नहीं हुआ । कुन्ती ने प्रार्थना की कि—'भगवन् ! क्षमा कीजिये, मैं अभी कुमारी हूँ, सन्तान-उत्पत्ति का अधिकार मुझे नहीं है ।' इस पर सूर्य भगवान् ने कहा कि—'मेरा आना अन्यथा नहीं हो सकता । हाँ, यह हो सकता है कि सहवास करने और सन्तान उत्पन्न करने के बाद भी तुम कुमारी ही रह जाओगी ।' सूर्य भगवान् के सहवास से तुरन्त ही एक पुत्र सूर्य के समान तेजस्वी पैदा हुआ । लोक-लज्जा के भय से कुन्ती ने पुत्र को एक पिटारी में भर कर अश्व नदी में फेंक दिया । यही पुत्र आगे चलकर कर्ण* के नाम से विख्यात हुआ ।

नदी में बहती पिटारी को अधिरथ ने प्राप्त किया और खोला तो एक सुन्दर बालक निकला । देखा तो पता "चला कि उसके शरीर पर कुण्डल और कवच जन्म से ही था, इसलिए उसका नाम वसुषेण रखा गया ।

* कहीं-कहीं ऐसा उल्लेख भी मिलता है कि वह पुत्र कान के रास्ते उत्पन्न हुआ, इसलिए उसका कर्ण नाम विख्यात हुआ ।

वसुधेन जब सयाना हुआ तो प्रातःकाल से सन्ध्याकाल तक सूर्य की उपासना किया करता था। उस समय उससे जो भी व्यक्ति कुछ माँगे तो वह इनकार नहीं कर सकता था। इसीलिए वह अपनी दान-वीरता के लिए हरिश्चन्द्र की भाँति विख्यात हो गया। एक बार इन्द्र ने ब्राह्मण का रूप धारण करके उसके तर्पण के समय अर्जुन के लिए उसका कवच और कुण्डल माँगा। उसने अविलम्ब दोनों वस्तुएँ निकालकर दे दीं। इन्द्र ने उसके बदले में उसे अमोघ 'शक्ति' दी।

कर्ण असीम बलशाली और कुशल धनुर्धारी थे। द्रौपदी के स्वयंवर के अन्तर पर उनकी अर्जुन से शत्रुता हो गई, जो जन्म भर मरते दम तक चलती रही। वे बार-बार अर्जुन को हराना चाहते थे। कर्ण ने दुर्योधन से मित्रता की थी, इसलिए लाख समझाने पर भी वे पाण्डवों की ओर न आ सके और अन्त में उन्होंने दुर्योधन की तरफ से युद्ध किया। मित्रता के सामने उन्होंने अपने भाइयों का लिहाज तक न किया।

कर्ण ने भी द्रोणाचार्य से शस्त्र-शिक्षा प्राप्त की थी। पर द्रोण ने कर्ण को ब्रह्मास्त्र नहीं सिखाया था। इसलिए कर्ण परशुराम के पास गया और अपने को ब्राह्मण बतलाकर उनसे ब्रह्मास्त्र सीख लिया। बाद में भेद खुल जाने पर परशुराम जी ने शाप दे दिया कि—'तूने मुझसे छल किया है, इसलिए तुम्हारा ब्रह्मास्त्र समय पर तुम्हें भूल जायगा और तुम्हारे कोई काम न आयेगा।' वैसा ही हुआ। कर्ण वीर, आत्माभिमानी और दानशील था। वह बात का धनी था। कृष्ण ने लाख समझाया कि तुम पाण्डवों के बड़े भाई हो, पाण्डवों के पक्ष में आ जाओ। पर उसने एक न सुनी, क्योंकि उसने दुर्योधन से मित्रता कर रखी थी और उसीका नमक भी खाया था। इसलिए उसे अदा करना उसका कर्तव्य था। एक बार उसकी माता कुन्ती भी उसे अपने पक्ष में करने के लिए फुसलाने गई, पर कर्ण टस से मस न हुआ। हाँ, एक बात का वचन उसने अवश्य दिया कि 'मैं अर्जुन के अतिरिक्त किसी अन्य पाण्डव के प्राण न लूँगा।' और इसको उसने अन्त तक निभाया।

कुब्जा

कुब्जा मथुरा में रहनेवाली एक दासी थी। वह कंस के दरबार में अंगराग, माला, चन्दन, लेपन आदि का कार्य करनेवाली दासी थी। उसका अंग तीन स्थानों पर टेढ़ा था। इसीलिए उसका नाम त्रिवक्त्रा भी था तथा कूबड़ रहने से वह कुब्जा कहलायी।

एक बार कंस ने छल करके मारने के उद्देश्य से कृष्ण और बलराम को अक्रूर द्वारा मथुरा बुलवाया। भगवान् कृष्ण और बलराम मथुरा पहुँचे। दूसरे दिन भगवान् कृष्ण अपने साथियों के साथ मथुरा नगर देखने निकले। रास्ते में धोबी और दर्जी से रंग-विरंगे नाना प्रकार के वस्त्र माँग कर उन्होंने अपने शरीर को खूब सजा लिया। इसके पश्चात् राजमार्ग से होकर आगे बढ़े तो उन्होंने देखा कि एक परम सुन्दरी स्त्री अंगराग और चन्दन आदि लेप लिये जा रही थी। उसका शरीर तीन स्थानों पर टेढ़ा था। भगवान् के पूछने पर उसने बताया कि—“मेरा नाम कुब्जा है। मेरा काम कंस के यहाँ चन्दन-अंगराग आदि लेप लगाना है। भगवान् ने भी उससे अंगराग और चन्दन आदि माँगा। उसने प्रेमपूर्वक भगवान् को चन्दन-लेप किया, जिससे भगवान् कृष्ण एवं बलराम की शोभा अद्वितीय हो गई। इस सेवा के बदले में भगवान् ने कुब्जा के दोनों पैर के पंजों को अपने चरणों से दबाकर उसका वदन सीधा कर दिया। अब तो कुब्जा की सुन्दरता निखर आई। इधर भगवान् के स्पर्श से कुब्जा का मन भी डोल गया। उसने भगवान् का दामन पकड़ लिया और प्रार्थना की कि—“हे परम सुन्दर! अब आप मेरे घर पधारें और मुझे कृतार्थ करें। मैंने अपना तन और मन दोनों आप पर निछावर कर दिया है।” कुब्जा की भक्ति और प्रेम देखकर भगवान् प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा कि अपना कार्य समाप्त करके मैं तुम्हारे घर अवश्य आऊँगा। कुब्जा भगवान् से मिलन की आस लेकर घर चली गई।

इधर भगवान् कृष्ण ने कंस का काम तमाम किया। इसके पश्चात् कुब्जा की अभिलाषा पूर्ण करने के लिए उसके घर पहुँचे। कुब्जा ने भगवान् कृष्ण की विधिवत् पूजा की तथा सज-धज कर भगवान् का आर्चन किया। केवल चन्दन

और अङ्गराग देने के नाते भगवान ने उसपर इतनी कृपा की। प्रसन्न होकर भगवान ने उससे वर माँगने को कहा तो उस दुर्भगा ने सेवा एवं भक्ति न माँगकर यही माँगा कि—“हे भगवान ! मेरा मन आप पर रीझ गया है, उसे संतुष्ट करने के लिए कुछ दिन यहीं रहें।” भगवान ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की और उसकी इच्छानुसार कुछ समय तक वहीं रहे। यह है भगवान की भक्तवत्सलता।

गोपियों ने कुब्जा को अपनी सबत समझ लिया। बात सत्य ही थी। भगवान गोपियों को छोड़कर कुब्जा के यहाँ निवास कर रहे थे। गोपियों ने नाना प्रकार के व्यंग्यात्मक उलाहनों एवं तानों की बौछार लगा दी। सूदास ने इसका खूब रसभरा चित्रण किया है।

केवट

केवट भगवान राम का अनन्य भक्त था। उसका व्यवसाय यही था कि लोगों को गंगा पार उतारे और उससे जो कुछ उतराई मिले, उसी से अपनी जीविका चलाये। यही वह केवट था, जिसने वन जाते समय राम को गंगा पार उतारा था। जब रामचन्द्र जी सीता और लक्ष्मण सहित गंगातट पर पहुँचे तो तुलसीदास जी ने लिखा है कि केवट ने नाव पर भगवान को चढ़ाने से इनकार कर दिया। राम के माँगने पर वह नाव तो तुरन्त ले आया, पर राम को बैठने नहीं दे रहा था। उसके इनकार का यह अभिप्राय न था कि वह भगवान को पार उतारना ही न चाहता हो। बल्कि नाव पर चढ़ाने से पहले वह भगवान का चरण धोना चाहता था और उस चरणोदक को परिवार-सहित पान करना चाहता था।

उसके इस हट का भी कारण था। एक तो उसने सुन रखा था कि उन्हीं राम के चरण की धूलि से एक शिला स्त्री बन गई थी। अतः उसने सोचा कि जब इन चरणों की धूलि में इतना प्रभाव था कि पत्थर ऐसी कठोर वस्तु भी स्त्री बन सकती थी तो उसकी काठ की नाव की क्या विसात थी। वह नाव तो आसानी से स्त्री बन सकती थी और इस प्रकार उसकी जीविका का साधन समाप्त हो जाता। दूसरी बात यह थी कि वह तो जानता ही था कि राम

दशरथ के पुत्र ही नहीं बल्कि साक्षात् भगवान थे। उनके चरणों का अमृत इसी बहाने आसानी से मिल सकता था, जिससे उसका जीवन सफल हो जाता। एक बात और थी, केवट को पूर्वजन्म में इस प्रकार भगवान का चरणामृत पाने का वरदान भी मिल चुका था। वह कथा इस प्रकार है।

पूर्व जन्म में यह केवट कछुआ था। क्षीरसागर में भगवान आराम कर रहे थे। लक्ष्मीजी पैर दबा रही थीं। उसी समय भगवान के चरणों का स्पर्श करने की लालसा से वह कछुआ भगवान के चरणों के निकट आ पहुँचा। यह देख लक्ष्मीजी को बड़ी ईर्ष्या-सी हुई और उन्होंने फटकारकर कछुए को दूर भगा दिया कि किसी का मेरे जैसा भाग्य कहाँ, जो भगवान के चरणों को स्पर्श कर सके। कछुआ बेचारा बहुत निराश हुआ और खिसिया कर दुःखित मन से वापस चला गया। भगवान तो अन्तर्यामी हैं ही। वे कछुए की भावना को ताड़ गये और मन ही मन उसे वरदान दे दिया कि अगले जन्म में तुम्हें मेरा चरणोदक प्राप्त होगा और जो लक्ष्मी आज तुम्हारा अनादर कर रहीं हैं, उन्हें भी तुम्हारे सामने याचना करनी पड़ेगी और जो लक्ष्मी चरण नहीं छूने दे रही हैं, उन्हीं के सामने जी भर के चरण धोकर चरणामृत पीयोगे।

आज उसी केवट को सुयोग मिला है कि भगवान के चरणों को पखारने का हठ कर रहा है। आज लक्ष्मीजी की एक भी नहीं चल रही है। केवट ने कठौती में पानी भर कर भगवान राम का चरण धोया और बाल-बच्चों सहित अमृत का पान किया। इसके उपरान्त सीता, राम और लक्ष्मण को नाव पर बैठाकर पार उतारा। केवट ने राम को केवल नदी के पार उतारा था, पर भगवान को उसे परिवार-सहित इस भवसागर के पार उतारना पड़ा।

पार उतरकर सीता ने राम की ओर संकेत किया कि इसे कुछ उतराई देना चाहिए। परन्तु उन लोगों के पास भौतिक रूप में था ही क्या, जो उसे देते ? खैर, अपनी मुँदरी उतारकर सीताजी केवट को देने लगीं, पर केवट बेचारा उसे कैसे पचा पाता ! दो पैसे की उतराई के बदले में वह सोने की मुँदरी कैसे लेता। उसने साफ इनकार कर दिया। उसने कहा—‘आप सोच रहे होंगे कि इसे कुछ भी न दिया, पर मुझे तो इतना अधिक मिल गया कि इससे अधिक मुझे आवश्यकता ही नहीं रह गई इस जीवन में। (वाल्मीकिजी

के अनुसार यह केवट साधारण केवट न होकर निषादों का राजा था और भगवान राम का परम भक्त और मित्र था। उक्त कथा मैंने तुलसी के आधार पर दी है, क्योंकि मुझे वही कथा अधिक उचित मालूम पड़ी।'

कुवेर

कुवेर धन के देवता और चतुर्थ लोकपाल हैं। वंशपरम्परा में रावण के भाई और विश्रवा के पुत्र तथा महर्षि पुलस्त्य के नाती थे। इन्हें देवताओं से पुष्पक विमान भी मिला था तथा लंका भी प्रारम्भ में इन्हें ही मिली थी, बाद में रावण ने इनसे उसे छीन लिया। कुवेर के जन्म तथा जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में महर्षि वाल्मीकि ने विस्तार से कथा लिखी है। वह इस प्रकार है।

ब्रह्मा के पुत्र पुलस्त्य थे, जो ब्रह्मा के समान ही गुणी, तेजस्वी, ज्ञानी और विद्वान थे। एक समय की बात है कि पुलस्त्य अपने आश्रम में ध्यानमग्न हो तपस्या कर रहे थे। उनके आश्रम को अत्यन्त रमणीक देखकर नाना प्रकार की अम्सराओं और युवतियों ने वहाँ प्रतिदिन नाच-गान आरम्भ किया। ऋषि को तपस्या में बड़ा दिघ्न पड़ा। एक दिन क्रोध में आकर उन्होंने स्त्रियों से कहा आज से जो युवती मेरे सामने आयेगी, वह शीघ्र ही गर्भवती हो जायेगी।' परिणाम यह हुआ कि स्त्रियाँ वहाँ से भाग गईं। किन्तु राजर्षि तृणबिन्दु की कन्या ने इस बात को नहीं सुना। संयोगवश वह दूसरे दिन भी अपनी सखियों की खोज में पुलस्त्य ऋषि के आश्रम पर पहुँची। ऋषि के सामने जाते ही उसके गर्भ रह गया। शरीर पीला पड़ गया और गर्भ के समस्त लक्षण दिखाई पड़ने लगे। कन्या को बड़ा आश्चर्य हुआ और उदास चित्त से वह घर लौट गई। जब तृणबिन्दु ने कन्या की यह दशा देखी और पूछा तो उसने उत्तर दिया—'पिता-जी, मैं अपनी इस दशा के बारे में कुछ नहीं जानती। मैं तो सखियों को ढूँढ़ती हुई पुलस्त्य ऋषि के आश्रम पर गई थी। वहाँ एका-एक मेरी यह दशा हो गई। पुत्री की यह बात सुन कर तपस्वी तृणबिन्दु ने ध्यान लगा कर पता लगाया तो पुलस्त्य की सारी बातें उन्हें ज्ञात हो गईं। तृणबिन्दु अपनी कन्या को लिये हुये सीधे पुलस्त्य ऋषि के पास पहुँचा और उनसे कन्या को स्वीकार करने की प्रार्थना की। पुलस्त्य ने तृणबिन्दु की प्रार्थना स्वीकार की और कन्या को पत्नीरूप में

आश्रम में रख लिया। पत्नी की सेवा से प्रसन्न होकर ऋषि ने एक दिन उसे वरदान दिया 'मेरे ही समान तेजस्वी, ज्ञानी और धर्मात्मा पुत्र तुम्हें प्राप्त होगा। तुमने मुझसे वेदपाठ सुना है, इसलिये उसका नाम विश्रवा होगा।' आर्ष वाणी सत्य हुई और समय आने पर विश्रवा का जन्म हुआ। विश्रवा इन्द्रियजित्, वेदज्ञानी और सत्यवक्ता महात्मा हुए मुनि भरद्वाज ने विश्रवा को हर तरह से योग्य जानकर देववर्णिनी नाम की अपनी कन्या उसे ब्याह दी। समय पर विश्रवा के संग से देववर्णिनी ने एक सुलक्षण पुत्र उत्पन्न किया। पितामह पुलस्त्य को बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने उसका संस्कार किया तथा उसका नाम वैश्रवण रखा। वैश्रवण धर्म को ही सबसे बड़ा मानते थे और इसी लिये दुनिया को छोड़ कर वन में कठोर तपस्या करने लगे। एक हजार वर्षों की घोर तपस्या से ब्रह्माजी प्रसन्न होकर प्रकट हुये और उससे वरदान माँगने को कहा। वैश्रवण ने कहा—'हे भगवन् ! मैं देवताओं का कोषाध्यक्ष होना चाहता हूँ तथा मैं यह भी चाहता हूँ कि लोकपाल-पद प्राप्त करूँ।' देवताओं सहित ब्रह्मा जी बोले—'तुम्हारी इच्छा अवश्य पूर्ण होगी। आज से तुम देवताओं के कोषाध्यक्ष तथा इन्द्र, वरुण और यम के साथ चौथे लोकपाल होगे।' यही वैश्रवण कुबेर नाम से विख्यात हुए। इस प्रकार इच्छानुसार वरदान पाकर कुबेरजी अपने पिता के पास पहुँचे और उनसे कहा 'पिता जी, मुझे अपनी इच्छा के अनुसार वर तो मिल गया, पर मेरे रहने का कोई स्थान नहीं है। कृपया मेरे रहने का स्थान अब आप बताइये।' तब विश्रवाजी प्रसन्न होकर बोले 'हे तात ! समुद्र के किनारे चित्रकूट पर्वत पर लंका नाम की एक सोने की पुरी है, जिसे विश्वकर्मा ने स्वयं राक्षसों के लिये बनाया है, उसमें नाना प्रकार के यन्त्र और शस्त्रास्त्र रखे हुये हैं। इस समय उस लंका का कोई स्वामी नहीं है, क्योंकि सभी राक्षस विष्णु के डर से पाताल चले गये हैं।' इस प्रकार पिता की आज्ञा से धर्मात्मा कुबेर लंकापुरी में रहने लगे।

कुबेर के पास पुष्पक विमान था। उसी विमान पर बैठकर कुबेर जी प्रायः अपने पिता और पितामह के पास जाया करते थे। एक दिन आकाश-मार्ग से कुबेर जी विमान से अपने पिता के पास जा रहे थे। पृथ्वी पर उसी समय सुमाली नाम का एक राक्षस विचरण कर रहा था। उसने कुबेर को देखा और उनके ऐश्वर्य पर उसकी लार टपक पड़ी। उसे इच्छा हुई कि उसे भी कुबेर के समान

यश मिले तथा उसकी भी वैसी ही उन्नति हो। अब वह इसी सोच में पड़कर घर वापस आया और अपनी पुत्री को विश्रवा के पास उसी प्रकार का पुत्र उत्पन्न करने के उद्देश्य से भेजा। उसकी पुत्री का नाम कैकसी था। वह अतीव सुन्दरी थी। विश्रवा ने उसे अपनी पत्नी बनाया और उसी के गर्भ से रावण, कुम्भकर्ण, शूर्पणखा और विभीषण का जन्म हुआ।

एक दिन रावण की माता कैकसी ने रावण से कुवेर के यश और ऐश्वर्य का वर्णन किया और उसे उत्साहित किया कि 'तू भी वही उपाय कर जिससे तू कुवेर से भी अधिक तेजस्वी और समृद्ध हो सके।' रावण ने माता की इच्छा पूरी करने का प्रण किया और अपने भाइयों सहित कठोर तप किया। उसे ब्रह्मा और शिव से अनेकानेक वरदान प्राप्त हुये। अब क्या था, अब तो सुमाली राक्षस की इच्छा पूर्ण ही हो गई। उसने रावण आदि को पट्टी पढ़ायी और कुवेर से अपनी पुरानी लंका, जो राक्षसों की ही थी, छीनना चाहा। रावण ने कुवेर के पास दूत भेजा कि लंका राक्षसों की है, उसे राक्षसों को लौटा दें। दूत की इस प्रकार की बात सुन कर धर्मिष्ठ कुवेर ने अपनी लंका अपने छोटे भाई रावण को दे दी और स्वयं पिताजी की आज्ञा से धन-धान्य और सवारियाँ लेकर कैलाश पर्वत पर रहने लगे। बाद में रावण ने कुवेर से भी युद्ध करके उनका पुष्पक विमान भी छीन लिया।

गरुड़

गरुड़ कश्यप ऋषि के बेटे थे। वे पक्षियों के इन्द्र, साँपों और राक्षसों के शत्रु और देवताओं के हितैषी थे। उनमें अग्नि के समान तेज और असीम बल था। उनके जन्म के सम्बन्ध में महाभारत-आदि पर्व में इस प्रकार कथा आई है।

सत्ययुग में दक्ष-प्रजापति की कद्रू और विनता नाम की दो पुत्रियाँ थीं। उन दोनों का विवाह ब्रह्मा के बेटे कश्यप ऋषि से हुआ था। एक दिन कश्यप ऋषि ने प्रसन्न होकर अपनी पत्नियों से वर माँगने को कहा। कद्रू ने तो भगवान कश्यप के समान तेजस्वी नागस्वरूप एक हजार पुत्र माँगे। विनता ने प्रार्थना की 'हे नाथ, मेरे दो ही पुत्र हों पर बल, विक्रम और शरीर आदि में

कद्रू के एक हजार पुत्रों से भी अधिक हों।' कश्यप ने दोनों की प्रार्थना स्वीकार कर ली। समय आने पर दोनों स्त्रियों के गर्भ रहा 'गर्भ को सावधानी से रखना' यह कहकर कश्यप वन को चले गये।

इधर समय पूरा होने पर कद्रू के गर्भ से १ हजार अण्डे और विनता के गर्भ से दो अण्डे उत्पन्न हुए। दासियों ने उन्हें गर्भ-पात्रों में यत्नपूर्वक रख दिया। पाँच सौ वर्ष बाद कद्रू के हजार अण्डों से हजार नाग बाहर निकले। किन्तु विनता के अण्डे अभी नहीं फूटे, तब उसने ईर्ष्या-वश एक अण्डा स्वयं फोड़ डाला, जिसमें से एक बालक निकला जिसका आधा शरीर अभी वन ही न पाया था। बालक ने क्रोधित होकर शाप दिया—'तुमने सौतिया डाह से मेरा शरीर नष्ट कर दिया। अब मैं शाप देता हूँ कि जिससे तुम लाग-डाँट रखती हो, उसी कद्रू की पाँच सौ वर्षों तक दासी रहोगी। यदि इस दूसरे अण्डे को नष्ट न करोगी तो इससे उत्पन्न सन्तान तुम्हें इस शाप से छुड़ायेगी।' इतना कहकर बालक आकाश की ओर उड़ गया। वही बालक सूर्यदेव का रथ हाँकने वाला सारथि अरुण है।

इधर एक दिन की बात है कि कद्रू और विनता दोनों बहिनें समुद्र से निकले हुए घोड़े उच्चैःश्रवा को देखने चलीं। दोनों ने होड़ लगा ली। कद्रू ने कहा कि घोड़े की पूँछ काली है और विनता ने कहा—'नहीं, शरीर के समान ही पूँछ भी सफेद है। बाजी लगी कि जिसकी बात गलत निकले, वह दासी बन कर रहे। बाजी मान ली गई, और दोनों बहिनें घर चली गईं कि कल देखा जायगा।

रात में कद्रू ने अपने काले नागरूप पुत्रों से कहा कि तुम लोग मेरी बात सत्य करने के लिए घोड़े की पूँछ में लिपटकर पूँछ काली कर दो। ताकि मुझे दासी न बनना पड़े। साँपों को यह अन्याय अच्छा न लगा और उन्होंने वैसा करना अस्वीकार कर दिया। इस पर क्रुद्ध होकर कद्रू ने साँपों को शाप दे दिया कि—'तुम मेरी आज्ञा नहीं मान रहे हो तो जनमेजय के नागयज्ञ में तुम सभी जलकर मर जाओगे। अब तो साँप बहुत डरे और आपस में सलाह किया। यह तय हुआ कि माता को प्रसन्न करना चाहिये। माता को प्रसन्न करने के लिए सभी साँप घोड़े की पूँछ में जा लिपटे और इस तरह पूँछ काली हो गई।

दूसरे दिन प्रातःकाल जब दोनों बहिनें वहाँ पहुँची, तो देखा कि घोड़े की पूँछ काली दिखाई पड़ रही थी। बाजी में विनता की हार हुई और उसे कद्रू की दासी बनना पड़ा।

ठीक इसी समय विनता का दूसरा अण्डा फूटा और उससे पक्षियों के राजा गरुड़ उत्पन्न हुए। उत्पन्न होते ही गरुड़ भगवान भोजन की खोज में आकाश में उड़ गये। उनके तेजःपुञ्ज से सारा आकाश अग्निमय हो गया। दिशायें काँप उठीं। चारों ओर ब्रह्माण्ड में भूकम्प-सा आ गया। गरुड़ ने भीषण गर्जना की जिससे पूरा ब्रह्माण्ड काँप उठा। सभी देवता डरने लगे और अग्निदेव के पास पहुँचे। अग्निदेव ने बताया कि ये कश्यप के पुत्र और पक्षियों के राजा गरुड़ हैं। वे देवताओं का हित करेंगे। इस प्रकार देवताओं से सम्मानित होकर गरुड़ अपनी माता के पास वापस चले आये।

गरुड़ की माता विनता अपनी बहिन कद्रू की दासी बनकर समुद्र के किनारे रह रही थी। गरुड़ भी माता जी के साथ रहने लगे। एक दिन कद्रू ने विनता से कहा—‘बहिन, पाताल लोक में सुन्दर-सुन्दर स्थान हैं। तुम मुझे अपनी पीठ पर लादकर तथा गरुड़ मेरे नाग-बच्चों को अपनी पीठ पर लादकर वहाँ ले चले। कद्रू की बात मानने को विनता मजबूर थी। विनता ने कद्रू को अपनी पीठ पर बैठाया तथा गरुड़ ने नागों को अपनी पीठ पर बैठाया तथा सब के सब नागलोक पहुँचे। वह स्थान देख चुकने के बाद फिर नागों ने गरुड़ से दूसरे लोक में ले जाने को कहा। साँपों की इस बात को सुनकर गरुड़ ने अपनी माता से पूछा कि “माताजी, हमें इन लोगों की आज्ञा क्यों माननी पड़ती है?” माताने पूरा वृत्तान्त कह सुनाया। इसके बाद गरुड़ ने नागों से पूछा—‘ऐसी कौनसी सेवा है, जिसे कर देने से हम और माताजी इस दासता से छूट जायेंगे।’ नागों ने कहा—‘हमें तुम देवलोक से अमृत लाकर दे दो तो हम तुम्हें मुक्त कर देंगे।’ अब क्या था, सर्वसमर्थ, वायुवेग से चलने वाले गरुड़ अमृत की तलाश में देवलोक की ओर उड़े।

तमाम ब्रह्माण्ड में अपना तेजःपुञ्ज फैलाते हुए गरुड़ उड़े। उनके इस वेग से ब्रह्माण्ड में खलबली मच गई। देवलोक पहुँचे तो सभी देवताओं ने

मिलकर गरुड़ का सामना किया। गरुड़ ने सब देवताओं को अकेले हरा दिया। इसके बाद गरुड़ भगवान अमृत के कलश के पास पहुँचे तो देखा कि कलश के ऊपर तेज धार वाला एक चक्र घूम रहा है और महा विषैले नाग उसकी रखवाली कर रहे हैं। गरुड़ ने भीषण रूप धारण करके धूल उड़ाकर नागों को अंधा कर दिया और फिर नन्हा रूप धर कर चक्र के आरों के बीच से प्रवेश करके अमृत के कलश को उठाकर चलते बने। रास्ते में विष्णु भगवान मिले और बोले—‘मैं तुम्हारे पराक्रम से प्रसन्न होकर वर देने आया हूँ। वर माँगो।’ गरुड़ ने कहा—‘आप मुझे अपनी ध्वजा पर रहने का वर दें तथा बिना अमृत पिये ही मुझे बुढ़ापा, बीमारी और मृत्यु से मुक्त कर दें।’ भगवान ने कहा—‘ऐसा ही होगा।’ तभी से गरुड़ विष्णु भगवान की ध्वजा पर रहने लगे और उस ध्वज को गरुड़ध्वज कहा जाने लगा। इसके बाद गरुड़ ने भी विष्णु भगवान से वर माँगने को कहा। विष्णु भगवान ने कहा—‘आप मेरे वाहन बनें।’ गरुड़ ने स्वीकार कर लिया। तब से गरुड़ भगवान विष्णु की सवारी बन गये।

इस प्रकार वरदान पाकर गरुड़ आगे बढ़े। इन्द्र ने अन्य देवताओं सहित पीछा किया। पुनः युद्ध हुआ और गरुड़ ने इन्द्रादि समस्त योद्धा देवताओं को हरा दिया। गरुड़ की यह अद्भुत शक्ति देखकर इन्द्र को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने समझ लिया कि यह कोई रहस्यात्मक प्राणी है, जिसमें दैवी शक्ति है। तब इन्द्र इसका रहस्य जानने के लिए गरुड़ के पास पहुँचे और उनका परिचय पूछा। उन्हें गरुड़ जानकर इन्द्र ने उनसे मित्रता कर ली। इन्द्र बोले, ‘यदि अमृत की विशेष आवश्यकता न हो तो मुझे देदो, क्योंकि जिसे तुम अमृत दोगे, वह हम लोगों को सतावेगा। गरुड़ बोले, ‘अमृत मैं तो आवश्यक उद्देश्य से ही ले जा रहा हूँ, पर इतना मैं करूँगा कि इसे कोई पीने न पायेगा। आप मेरे साथ चलिये। जैसे ही मैं अमृत को रखूँगा आप इसे उठाकर चलते बनिये।’ इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हुए और गरुड़ से वर माँगने को कहा। गरुड़ माता के दासीभाव, साँपों के दुर्व्यवहार तथा अपनी विवशता आदि को याद करके बोले—‘मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि सभी साँप मेरा आहार हो जायं।’ इन्द्र बोले—‘ऐसा ही होगा।’ इसके बाद इन्द्र भगवान अपने

लोक चले गये और गरुड़ जी आकाश-मार्ग से उड़कर अपनी माता तथा नागों के पास पहुँचे ।

वहाँ पहुँचकर गरुड़ ने प्रसन्नतापूर्वक नागों से कहा—‘मैं अमृत ले आया हूँ । तुम सभी लोग जाओ, स्नान कर आओ और तब तक मैं इसे कुश पर रखता हूँ । मैंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर दी । अब तुम लोग भी अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करो और आज से अब मेरी माता कद्रू की दासी न रहेगी और न मैं आप लोगों का सेवक ही रहा ।

इधर जैसे ही नाग स्नान करने चले गये, इन्द्र पहुँचे और अमृत का कलश लेकर रवाना हो गये । जब साँप नहा-धोकर आये तो देखा कि कलश गायब था तो उस कुश में लगे हुए अमृत को चाटने लगे । इस प्रकार चाटने में साँपों की जीभ फट* गई । तभी से साँपों की जीभें दो भागों में फटी होने लगीं । और कुश पवित्र और मांगलिक माना जाने लगा ।

इस प्रकार गरुड़ ने कई महत्त्वपूर्ण कार्य एक ही प्रयत्न में कर डाले । साँपों से पीछा छुड़ा लिया और साँपों को अपना आहार बनाया, इन्द्र और विष्णु भगवान से मित्रतापूर्ण वर प्राप्त करके विष्णुजी की वज्रा में स्थान प्राप्त किया, भगवान की सवारी बनकर उनकी सेवा करने का अवसर प्राप्त किया । अब परम प्रसन्न गरुड़ साँपों को भक्षण करते हुए निर्भय होकर माता के साथ वन में भ्रमण करने लगे । गरुड़ दूसरे इन्द्र थे । वे संसार में सबसे अधिक बलवान तथा सबसे अधिक वेगसे चलने वाले थे । उन्हें कोई भी जीत नहीं सकता था । गरुड़ की उत्पत्ति ही विशेष प्रयोजन से हुई थी । उनकी उत्पत्ति, पक्षिराज इन्द्र होने आदि का वृत्तान्त महाभारत के आदि पर्व में इस प्रकार आया है ।

एक समय की बात है कि ब्रह्माजी के पुत्र प्रजापति कश्यप पुत्र की इच्छा से यज्ञ कर रहे थे । देवता, ऋषि और गन्धर्व आदि कश्यप की सहायता में लगे हुए थे । कश्यप ने इन्द्र आदि देवताओं और वालखिल्य आदि ऋषियों को लकड़ी लाने का आदेश दिया । वालखिल्य ऋषि अँगूठे की पोर के ही बराबर थे ।

* तभी से साँपों को ‘द्विजिह्व’ भी कहा जाने लगा ।

इन्द्र तो पहाड़ के समान लकड़ी उठाकर लिये चले आ रहे थे। रास्ते में देखा कि नाटे बालखिल्य ऋषि एक गऊ के खुर में फँसे कष्ट पा रहे थे। बल पर घमंड रखनेवाले इन्द्र अभिमानपूर्वक उन ऋषियों पर हँसकर चलते बने। इन्द्र के इस अपमान से ऋषियों को बड़ी ठेस पहुँची। वे बहुत क्रुद्ध हुए और अपने तपोबल से एक दूसरा इन्द्र उत्पन्न करने के लिए यज्ञ करने लगे। ऋषि लोग यह कह कर आहुति छोड़ते थे कि—‘मन के समान वेगवाला तथा इन्द्र से सौगुना पराक्रम रखने वाला एक दूसरा इन्द्र उत्पन्न हो, जो इस इन्द्र को नीचा दिखा सके और उसके समक्ष संसार तथा त्रिलोक में कोई टिक न सके।’ इस प्रकार का यज्ञ देखकर इन्द्र अत्यन्त भयभीत हुए और सीधे कश्यप भगवान के पास पहुँचे। कश्यप ने जाकर उन बालखिल्य ऋषियों से कहा—‘देखो, विधाता ने त्रिलोकी का स्वामी बनाकर पुरन्दर को इन्द्र का पद दिया है, किन्तु ब्रह्मा की इस बात को मिथ्या करने के लिए आप लोग अपने तपोबल से दूसरा इन्द्र उत्पन्न कर रहे हैं, यह उचित नहीं। साथ ही अब आप लोगों का यह संकल्प भी मिथ्या नहीं हो सकता। इस समय इन्द्र आपकी शरण में हैं और क्षमा-प्रार्थना कर रहे हैं। अब आप लोग ऐसा कीजिये कि आपके तपोबल से उत्पन्न हुआ पराक्रमी इन्द्र देवताओं का इन्द्र न होकर पत्नियों का इन्द्र हो।’ बालखिल्य ऋषि कश्यप की बात मान गये और बोले—‘हम लोगों ने तो संकल्प किया है कि आपके ही वीर्य से वह इन्द्र उत्पन्न हो। अब आप जैसा उचित समझिये, वैसा कीजिये।’ कश्यप ने इन्द्र को समझाया कि—‘आप चिन्ता न करें। देवताओं का इन्द्र दूसरा नहीं होगा।’ बालखिल्य ऋषियों के संकल्प के अनुसार ही कश्यप के वीर्य से पत्तिराज गरुड़ जी का जन्म हुआ और इन्द्र को उनके सामने हारना पड़ा।

गज-ग्राह

क्षीरसागर में अत्यन्त ऊँचा त्रिकूट नाम का एक पर्वत था। उस पर्वत की तलहटी में नाना प्रकार के जंगली जानवर रहते थे। त्रिकूट की तराई में ही वरुण का एक रम्य उद्यान था, जिसका नाम था ऋतुमान। उसमें नाना प्रकार के फल-फूल के वृक्ष थे। वहाँ पर देवांगनाएँ विहार करने जाया करती थीं। उसी

उद्यान में एक अत्यन्त शोभायमान सरोवर था। उस सरोवर में नाना प्रकार के जलजीव तथा पक्षी रहा करते थे। जंगली जानवर भी उसमें विहार करने तथा पानी पीने जाया करते थे।

एक दिन की बात है कि उसी जंगल में रहनेवाला एक गजेन्द्र अपनी कई हथिनियों के बीच में विहार करता हुआ सरोवर में पहुँचा। वह गजेन्द्र मदमस्त था। उसकी गंधमात्र से जंगल के जीव भाग जाया करते थे। वह हाथी जल में घुस गया और उसने यथेच्छ खूब जल पिया। इसके बाद बच्चों और हथिनियों को जल पिलाने लगा। भगवान की माया से मोहित होकर गजेन्द्र उन्मत्त हो रहा था।

जिस समय वह गज उन्मत्त हो रहा था, उसी समय प्रारब्ध की प्रेरणा से एक ग्राह ने क्रोधित होकर आक्रमण किया और गजेन्द्र का पैर कसकर पकड़ लिया। हाथी ने पूरी शक्ति लगाकर उससे छुड़ाने का प्रयत्न किया, पर एक भी प्रयत्न सफल न हो सका। दोनों खींच-तान कर रहे थे। गज अपनी ओर खींचता था और घड़ियाल अपनी ओर। कभी गज ग्राह को पानी के बाहर खींच लाता और कभी ग्राह गज को पानी के भीतर खींच ले जाता। इस प्रकार दोनों एक हजार वर्ष तक इसी प्रकार खींचातानी करते हुए जीवित रह गये। यह घोर संग्राम देखकर देवता भी चकित रह गये।

अन्त में हाथी का शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया। न तो शरीर में बल रहा और न मन में उत्साह। उधर ग्राह की शक्ति बढ़ती जाती थी। अब तो गज के प्राण अकस्मात् संकट में पड़ गये। बचने का कोई उपाय न रहा और ग्राह उसे पानी के अन्दर खींचे लिये जा रहा था। गज ने अन्त में यही निर्णय किया कि अवश्य ही यह विधाता और भाग्य की वक्रता है। 'यह ग्राह माया की फाँसी है, अब तो अवश्य ही मुझे परम भगवान की ही शरण लेनी चाहिए।'।

अब तो गज ने अपने को पूर्ण रूप से भगवान को अर्पित कर दिया तथा निश्चेष्ट होकर ईश्वर की स्तुति करने लगा। गज की दुखमरी वाणी से स्तुति सुनकर भगवान चक्रधारी वेगमय गरुड़ पर सवार अन्यान्य देवताओं के साथ साक्षात् प्रकट हुए। भगवान् ने ग्राह सहित गज को बाहर खींच लिया और

सुदर्शनचक्र से धड़ से ग्राह का सिर अलग कर दिया । इस प्रकार गज की जान बचा ली । आकाश से फूलों की वर्षा होने लगी । स्वर्ग में दुन्दुभियाँ ब्रजने लगीं ।

इधर एक अद्भुत कौतुक हुआ । सिर कटते ही ग्राह एक परम आश्चर्यमय दिव्य शरीर से उत्पन्न हो गया । यह ग्राह पूर्वजन्म में 'हूहू' नाम का एक गन्धर्व था । देवल के शाप से उसे ग्राहयोनि मिली थी । आज भगवान के हाथों उसका उद्धार हो गया । उसने भगवान का चरण छुआ और अपने लोक को चला गया । गज को भी भगवान का स्पर्श होते ही अपना पूर्वरूप प्राप्त हो गया । इस तरह वह भी ईश्वर के हाथों तर गया । यह गज पूर्व जन्म में इन्द्रधुम्न नाम का एक तपस्वी राजा था । एक दिन वह तपस्या कर रहा था कि उसी समय अगस्त्य आदि ऋषि आ पहुँचे, परन्तु तप में लीन राजा उनका यथोचित स्वागत नहीं कर सका । इससे ऋषियों ने शाप दिया 'कि इसकी बुद्धि हाथी जैसी जड़ हो गई है, इसलिए इसे हाथी की ही योनि प्राप्त हो ।' आज उसी शाप से गज को भी मुक्ति मिली । यह है भगवान को भक्त-वत्सलता ।

गोकर्णोपाख्यान

पूर्व समय में तुङ्गभद्रा नदी के किनारे एक सुन्दर नगर था । उसमें एक धनाढ्य ब्राह्मण रहता था । उसकी पत्नी कुछ क्रूर स्वभाव की थी, पर थी बड़ी हँसमुख । उसके साथ ब्राह्मण का दाम्पत्य जीवन बड़े सुख से बीत रहा था । ब्राह्मण देवता बड़े धर्मात्मा और दानी प्रवृत्ति के थे ! इतना होने पर भी वे दम्पति सुखी न थे, क्योंकि उनके कोई सन्तान न थी । यज्ञ और दान आदि अनेक उपाय किये पर पुत्र-प्राप्ति न हुई । अन्त में निराश होकर ब्राह्मण देवता ने घर छोड़ दिया और जंगल चले गये । जाते-जाते वे बहुत थक गये और नदी के किनारे पहुँचे । थोड़ा जल पिया और आराम करने लगे । इतने में उधर ही से एक संन्यासी महात्मा आ निकले । ब्राह्मण ने उनसे अपना दुःख बयान किया और पुत्र प्राप्त करने का आशीर्वाद माँगा । संन्यासी महात्मा ने कहा—'तुम्हारे ललाट में तो सात जन्म तक सन्तान नहीं लिखी है, इसलिए तुम सन्तान का मोह छोड़ दो और विवेक से काम लो । दुनिया की मोह-माया त्याग कर संन्यास ग्रहण करो ।' किन्तु

३ पौ. क.

ब्राह्मण ने उन महात्मा की एक न सुनी और बराबर सन्तान का हठ करते रहे। अन्त में संन्यासी ने उन्हें एक फल दिया और कहा कि इसे ले जाकर अपनी पत्नी को खिला दो। इससे तुम्हें एक पुत्र प्राप्त होगा।

ब्राह्मण देवता फल लेकर प्रसन्न हो घर आये और फल अपनी स्त्री को दिया और उसका प्रभाव आदि बताया। इसी समय वे स्वयं किसी कार्य से बाहर चले गये।

उनकी स्त्री बड़ी क्रूर स्वभाव की थी। बड़ी कुटिल और फूहड़ थी। उसने सोचा—‘इसके खाने से गर्भ रहेगा, शरीर पीला पड़ जायगा, खाना नहीं खाया जायगा, पेट बढ़ आयेगा तथा घर का काम-धंधा बन्द हो जायगा।’ इसी प्रकार सन्तान-जनन के अन्यान्य दुःखों की कल्पना करती रही। ठीक इसी समय उसकी बहिन उसके घर आई। उसने बहिन से भी गर्भ से उत्पन्न यातनाओं तथा फल की चर्चा की। उसकी बहिन ने कहा—‘इसमें क्या है। सीधा ही उपाय तो है। मेरे पेट में गर्भ है, पैदा होने पर इसे मैं तुम्हें दे दूंगी। इस बीच तुम गर्भिणी बन कर बच्चा पैदा होने तक घर में छिपी रहो। रही बात मेरी, तो यह कह दिया जायगा कि इसकी सन्तान छः महीने की होकर ही जाती रही। बच्चे का लालन-पालन मैं स्वयं चुपके से तुम्हारे घर आकर कर जाया करूँगी। हाँ, इस फल की परीक्षा लेने के लिए इसे गाय को खिला दो। उस दुर्बुद्धि ब्राह्मणी को बहिन की सलाह जँच गई; उसने ऐसा ही किया। इधर ब्राह्मण देवता को इसका कुछ पता न चलने पाया।

समय आने पर उसकी बहिन के बालक उत्पन्न हुआ। उस कपटी ब्राह्मण ने ब्राह्मण देवता को सूचना दिलवायी कि मेरे सुखपूर्वक पुत्र उत्पन्न हुआ। ब्राह्मण देवता का नाम आत्मदेव तथा पत्नी का नाम धुन्धुली था। आत्मदेव को बड़ा हर्ष हुआ और उसने अतिशय दान-पुण्य किया। पास-पड़ोसवालों को भी आत्मदेव के पुत्र हुआ जान कर बड़ा हर्ष हुआ। धुन्धुली ने अब अपने पति ब्राह्मण देवता से कहा—‘मेरे स्तनों में दूध नहीं हो रहा है और अब किसी जानवर के दूध से बच्चे का पालन ठीक न होगा। मेरी बहिन के पास बच्चा हुआ था और मर गया। उसे ही बुलवा लिया जाय और उसके दूध

गोकर्णोपाख्यान

३५

से ही बच्चे का पालन-पोषण ठीक रहेगा ।' ब्राह्मण आत्मदेव ने वैसा ही किया ।
बालक का नाम माता ने धुन्धुकारी रखा ।

इधर तीन महीने बाद उस गऊ के भी दिव्य, सर्वाङ्ग सुन्दर, निर्मल, स्वर्ण की
कान्तिवाला मनुष्याकार बालक उत्पन्न हुआ । आत्मदेव को गऊ के इस प्रकार
के बालक को देखकर बड़ा आश्चर्य और साथ ही साथ अपार हर्ष भी हुआ ।
उस बालक का भी लालन-पालन होने लगा । उसका नाम 'गोकर्ण'
रखा गया ।

दोनों पुत्र बड़े हुए । धुन्धुकारी बड़ा ही दुष्ट, दुरात्मा और रान्सी वृत्ति का
निकला । अनाचार, हिंसा, पापकर्म, वेश्यागमन आदि ही उसका कार्य रहता था ।
उसने पिता द्वारा अर्जित सारी सम्पत्ति वेश्याओं को लुटा दी । घर में फूटी कौड़ी
भी न रहने दी । माँ-बाप को भी पीटने लगा । एक दिन पिताजी अत्यन्त
दुःखी होकर अपने भाग्य पर रो रहे थे कि गोकर्ण आ पहुँचे । गोकर्ण अभी आठ
ही वर्ष के थे, पर उन्हें, पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो चुका था । पूजा-पाठ, ईश्वर-भजन,
संध्या, वैराग्य आदि ही उनका कार्य था । गोकर्ण ने पिताजी को उपदेश
दिया—'यह संसार असार है । इसमें अपना-पराया कुछ नहीं । पुत्र-परिवार
एक मायाजाल है । इसमें दुःख ही दुःख है । सुख तो केवल वैराग्य और
भगवद्-भजन में ही है । इसलिए पिताजी, आप भी अब वैराग्य ले लें ।' पुत्र की
वार्ते आत्मदेव को अत्यन्त प्रिय लगी । उन्होंने गोकर्ण से उपदेश लेकर
वैराग्य का विधान पूर्णरूप से जान कर जंगल का रास्ता लिया । योगनिष्ठ गोकर्ण
जी तीर्थयात्रा पर चल पड़े । ब्राह्मण की स्त्री भी धुन्धुकारी के अत्याचारों, पापों
और यातनाओं से उकताकर एक रात्रि को कुएँ में गिर कर मर गई । उसे तो
अपने पाप का ही प्रायश्चित्त मिला । अब घर पूर्णरूप से खाली हो
गया । धुन्धुकारी पाँच वेश्याओं के साथ रहने लगा । उसका कार्य अब यही रह
गया था कि वह धन चुरा कर लाता और वेश्याओं को खिलाता था । काफी
धन संचित हो जाने पर धन की लोभी वेश्याओं ने धुन्धुकारी को एक रात रस्सी
से बाँधकर उसके मुँह पर जलते अंगारे रखकर मार डाला और शरीर को एक
गड्ढे में गाड़ दिया । और सारा धन लेकर चम्पत हो गई । इस प्रकार की
अकाल-मृत्यु से धुन्धुकारी को प्रेतयोनि प्राप्त हुई ।

ब्राह्मण ने उन महात्मा की एक न सुनी और बराबर सन्तान का हठ करते रहे। अन्त में संन्यासी ने उन्हें एक फल दिया और कहा कि इसे ले जाकर अपनी पत्नी को खिला दो। इससे तुम्हें एक पुत्र प्राप्त होगा।

ब्राह्मण देवता फल लेकर प्रसन्न हो घर आये और फल अपनी स्त्री को दिया और उसका प्रभाव आदि बताया। इसी समय वे स्वयं किसी कार्य से बाहर चले गये।

उनकी स्त्री बड़ी क्रूर स्वभाव की थी। बड़ी कुटिल और फूहड़ थी। उसने सोचा—‘इसके खाने से गर्भ रहेगा, शरीर पीला पड़ जायगा, खाना नहीं खाया जायगा, पेट बढ़ आयेगा तथा घर का काम-धंधा बन्द हो जायगा।’ इसी प्रकार सन्तान-जनन के अन्यान्य दुःखों की कल्पना करती रही। ठीक इसी समय उसकी बहिन उसके घर आई। उसने बहिन से भी गर्भ से उत्पन्न यातनाओं तथा फल की चर्चा की। उसकी बहिन ने कहा—‘इसमें क्या है। सीधा ही उपाय तो है। मेरे पेट में गर्भ है, पैदा होने पर इसे मैं तुम्हें दे दूंगी। इस बीच तुम गर्भिणी बन कर बच्चा पैदा होने तक घर में छिपी रहो। रही बात मेरी, तो यह कह दिया जायगा कि इसकी सन्तान छः महीने का होकर ही जाती रही। बच्चे का लालन-पालन मैं स्वयं चुपके से तुम्हारे घर आकर कर जाया करूँगी। हाँ, इस फल की परीक्षा लेने के लिए इसे गाय को खिला दो। उस दुर्बुद्धि ब्राह्मणी को बहिन की सलाह जँच गई; उसने ऐसा ही किया। इधर ब्राह्मण देवता को इसका कुछ पता न चलने पाया।

समय आने पर उसकी बहिन के बालक उत्पन्न हुआ। उस कपटी ब्राह्मण ने ब्राह्मण देवता को सूचना दिलवायी कि मेरे सुखपूर्वक पुत्र उत्पन्न हुआ। ब्राह्मण देवता का नाम आत्मदेव तथा पत्नी का नाम धुन्धुली था। आत्मदेव को बड़ा हर्ष हुआ और उसने अतिशय दान-पुण्य किया। पास-पड़ोसवालों को भी आत्मदेव के पुत्र हुआ जान कर बड़ा हर्ष हुआ। धुन्धुली ने अब अपने पति ब्राह्मण देवता से कहा—‘मेरे स्तनों में दूध नहीं हो रहा है और अब किसी जानवर के दूध से बच्चे का पालन ठीक न होगा। मेरी बहिन के आग्रह पर बच्चा हुआ था और मर गया। उसे ही बुलवा लिया जाय और उसके दूध

गोकर्णोपाख्यान

३५

। से ही बच्चे का पालन-पोषण ठीक रहेगा ।' ब्राह्मण आत्मदेव ने वैसा ही किया ।
 ॥ वालक का नाम माता ने धुन्धुकारी रखा ।

इधर तीन महीने बाद उस गऊ के भी दिव्य, सर्वाङ्ग सुन्दर, निर्मल, स्वर्ण की
 कान्तिवाला मनुष्याकार वालक उत्पन्न हुआ । आत्मदेव को गऊ के इस प्रकार
 के वालक को देखकर बड़ा आश्चर्य और साथ ही साथ अपार हर्ष भी हुआ ।
 उस वालक का भी लालन-पालन होने लगा । उसका नाम 'गोकर्ण'
 रखा गया ।

दोनों पुत्र बड़े हुए । धुन्धुकारी बड़ा ही दुष्ट, दुरात्मा और राक्षसी वृत्ति का
 निकला । अनाचार, हिंसा, पापकर्म, वेश्यागमन आदि ही उसका कार्य रहता था ।
 उसने पिता द्वारा अर्जित सारी सम्पत्ति वेश्याओं को लुटा दी । घर में फूटी कौड़ी
 भी न रहने दी । माँ-बाप को भी पीटने लगा । एक दिन पिताजी अत्यन्त
 दुःखी होकर अपने भाग्य पर रो रहे थे कि गोकर्ण आ पहुँचे । गोकर्ण अभी आठ
 ही वर्ष के थे, पर उन्हें, पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो चुका था । पूजा-पाठ, ईश्वर-भजन,
 संध्या, वैराग्य आदि ही उनका कार्य था । गोकर्ण ने पिताजी को उपदेश
 दिया—'यह संसार असार है । इसमें अपना-पराया कुछ नहीं । पुत्र-परिवार
 एक मायाजाल है । इसमें दुःख ही दुःख है । सुख तो केवल वैराग्य और
 भगवद्-भजन में ही है । इसलिए पिताजी, आप भी अब वैराग्य ले लें ।' पुत्र की
 बातें आत्मदेव को अत्यन्त प्रिय लगीं । उन्होंने गोकर्ण से उपदेश लेकर
 वैराग्य का विधान पूर्णरूप से जान कर जंगल का रास्ता लिया । योगनिष्ठ गोकर्ण
 जी तीर्थयात्रा पर चल पड़े । ब्राह्मण की स्त्री भी धुन्धुकारी के अत्याचारों, पापों
 और यातनाओं से उकताकर एक रात्रि को कुएँ में गिर कर मर गई । उसे तो
 अपने पाप का ही प्रायश्चित्त मिला । अब घर पूर्णरूप से खाली हो
 गया । धुन्धुकारी पाँच वेश्याओं के साथ रहने लगा । उसका कार्य अब यही रह
 गया था कि वह धन चुरा कर लाता और वेश्याओं को खिलाता था । काफी
 धन संचित हो जाने पर धन की लोभी वेश्याओं ने धुन्धुकारी को एक रात रस्सी
 से बाँधकर उसके मुँह पर जलते अंगारे रखकर मार डाला और शरीर को एक
 गड्ढे में गाड़ दिया । और सारा धन लेकर चम्पत हो गई । इस प्रकार की
 अकाल-मृत्यु से धुन्धुकारी को प्रेतयोनि प्राप्त हुई ।

गोकर्ण को भी काफी समय के बाद जब अपने भाई धुन्धुकारी की मृत्यु का समाचार मिला तो उन्होंने घूम-घूमकर सभी तीर्थों में अपने भाई को ढूँढ़ दिया तथा उनका श्राद्ध आदि किया। इस प्रकार घूमते-घामते गोकर्ण अपने घर पहुँचे। रात में प्रेतयोनि प्राप्त धुन्धुकारी प्रेतरूप में प्रकट हुआ और रो-रो कर अपनी दुर्दशा गोकर्ण को सुनाने लगा। उसने गोकर्ण से अपने को उस प्रेत की कष्टमय योनि से मुक्त कराने की प्रार्थना की। गोकर्ण सोचने लगे कि मैंने नाना प्रकार से पिंडदान और श्राद्ध तो किया, पर अभी यह प्रेत ही है तो अब कौन-सा उपाय है? थोड़ी देर सोचकर उन्होंने अपने तपोबल से सूर्य की गति रोक दी। सूर्य भगवान प्रकट हुए और गोकर्ण ने उनसे धुन्धुकारी की मुक्ति का उपाय पूछा। सूर्यदेव ने बताया कि प्रेतयोनि तथा सब पापों से मुक्ति देनेवाली एकमात्र साधन 'श्रीमद्भागवत' है; तुम इसी का पारायण करो।

गोकर्ण ने सात दिन तक भागवत कथा का अनुष्ठान किया। तमाम भीड़ लग गई। वह प्रेत भी भागवत सुनने के लिए आया और कहीं स्थान न पाकर एक सात गाँठवाले बाँस में घुस कर बैठ गया। प्रत्येक दिन सबके देखते-देखते बाँस की एक-एक गाँठ फटती और सातवें दिन सातों गाँठें फोड़कर धुन्धुकारी प्रेतयोनि से मुक्त होकर दिव्य रूप में प्रकट हुआ। यह है भागवत-कथा सुनने का माहात्म्य! भारतवर्ष में जिस हिन्दू ने श्रीमद्भागवत का श्रवण और कथन न किया उसका जीवन व्यर्थ!

जलन्धर-वृन्दा

पूर्व समय में जलन्धर नाम का एक महाबली और प्रतापी राज्ञस था। देवता लोग उससे बार-बार हार जाते, पर राज्ञस कभी भी नहीं हारता था। देवता लोग बड़े चिन्तित हुए और भगवान विष्णु के पास पहुँचे। उन्होंने अपनी विपत्ति और जलन्धर की अजेयता उन्हें कह सुनायी। भगवान अन्तर्यामी विष्णु ने कहा 'जलन्धर की अजेयता में एक कारण है। उसकी स्त्री वृन्दा अत्यन्त पतिव्रता है। उसीके पातिव्रत से पति को इतनी शक्ति मिल गई है कि वह अजेय हो गया है। और जब तक उसका पातिव्रत खण्डित नहीं होगा तब तक उसे मैं भी नहीं हरा सकता।'।

यह रहस्य सुनकर देवता लोग बड़े विस्मय में पड़ गये और सोचने लगे कि इसका क्या उपाय किया जाय। फिर उन्होंने भगवान से ही जलन्धर के मरने का उपाय बताने की प्रार्थना की। भगवान विष्णु को देवताओं की इस विपत्ति पर दया आ गयी और उन्होंने वृन्दा के पातिव्रत धर्म-को खण्डित करने का उपाय सोचा। भगवान शंकर ने भी जलन्धर के साथ घोर संग्राम किया, फिर भी वह दैत्य अजेय रहा।

अन्त में भगवान ने षड्यन्त्र रचा। युद्ध हो रहा था। जलन्धर दैत्य घोर संग्राम में था। इधर भगवान ने षड्यन्त्र रचा। युद्ध हो रहा था। छलन्धर दैत्य घोर संग्राम में था। इधर भगवान वैकुण्ठनाथ ने जलन्धर का वेष धारण किया और सीधे जलन्धर की पत्नी वृन्दा के पास पहुँचे। रात में उसके पास रहे। इस प्रकार जैसे ही वृन्दा का पातिव्रत भगवान के छल से नष्ट हुआ, वैसे ही देवताओं ने जलन्धर का वध कर डाला और उसका सिर कटकर आकाश में बिछा गया।

इधर वृन्दा को अपने पति के निधन का समाचार मिला तो बड़ी चकित हुई कि रात में तो मेरे पति पास ही थे, तो युद्ध में मृत्यु कैसी? अन्त में अपने तेज से उसने जाना कि भगवान ने मेरे साथ छल किया है। बड़ी क्रोध हुई और बोली, 'हे नारायण! आपने मेरे साथ धोखा किया है और मेरा धर्म नष्ट किया है, इसलिए मैं आपको शाप देती हूँ कि आप पत्थर हो जायँ और मैं तुलसी हो जाऊँ और आपसे उच्च होकर आपके सिर पर चढ़ाई जाऊँ और संसार मेरी पूजा आपके सिर पर चढ़ाकर करे।' भगवान बेचारे क्या करते! गल्ती तो की ही थी। शाप को स्वीकार करना पड़ा। पतिव्रता के शाप को भगवान भी टाल नहीं सकते थे। तब से भगवान शालिग्राम पत्थर हुए और वृन्दा तुलसी हो गई और सदा तुलसी की पूजा शालिग्राम पर चढ़ाकर होती है। यह है भारतीय पतिव्रताओं के तपोबल का प्रभाव!

जय-विजय

जय-विजय वैकुण्ठधाम में श्रीहरि भगवान के द्वारपाल थे। एक बार की बात है कि ब्रह्माजी के मानस पुत्र सनक-सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन

घूमते-घूमते स्वर्गधाम पहुँचे । वे भगवान के पास पहुँचना चाहते थे, पर उन्हें उन द्वारपालों ने रोका । सनकादि मुनि भगवान के दर्शन के लिए आतुर हो रहे थे और इस प्रकार रोके जाने पर क्रुद्ध हो गये और शाप दिया, 'तुम दोनों ने मेरे साथ धृष्टता की है; सो अब तुम्हें राक्षस होना पड़ेगा, जहाँ काम, क्रोध, मद, लोभ आदि तुम्हें सता सकें ; और तीन जन्मों के बाद ही तुम्हारा उद्धार हो सकेगा ।'

जब भगवान श्रीहरि को यह बात मालूम हुई तो वे स्वयं वैकुण्ठ से चलकर सनकादि मुनियों के पास आये और उन्हें आदरपूर्वक ले जाकर आसन दिया और बोले, 'ब्राह्मण तो मेरे आराध्य और पूज्य हैं । आप ब्राह्मणों की सेवा में मुझे सुख मिलता है । आप लोगों ने मेरे पार्षदों को जो शाप दिया है वह मेरी ही प्रेरणा से हुआ है । शाप भोगकर वे फिर मेरे पास आ जायेंगे ।'

इस प्रकार ब्रह्म-शाप से पीड़ित दोनों पार्षद जय-विजय वैकुण्ठ से पतित हो गये । उसी समय यहाँ पर कश्यप की धर्मपत्नी अदिति ने गर्भ धारण कर रखा था और उन दोनों पार्षदों ने उसी में प्रवेश किया । हिरण्यक्ष और हिरण्यकशिपु उसी गर्भ से पैदा हुए । भगवान ने वाराह और नरसिंह रूप धरकर उन्हें मारा । फिर वही दोनों राक्षस और कुम्भकर्ण हुए फिर भगवान ने उन्हें मारकर उनका उद्धार किया । जलंधर भी वही हुआ और भगवान ने उद्धार किया । इस प्रकार ब्रह्मशाप तीन जन्मों तक रहा और अन्त में भगवान ने उन्हें मुक्त किया ।

जटायु

जटायु वृद्धराज था । वह भगवान का परम भक्त था । उसकी भगवान के चरणों में ऐसी भक्ति थी कि भगवान ने उसे स्वयं वैकुण्ठ प्रदान किया । जब रावण सीता को हर ले जा रहा था, उस समय वृद्ध जटायु ने उससे सीता को बचाने के लिए युद्ध किया था, पर रावण ने उसके पंख काट कर उसे धराशायी बना दिया और स्वयं आगे चल दिया ।

इधर राम-लक्ष्मण सीता को ढूँढ़ते हुए जटायु के पास संयोग से पहुँचे । जटायु ने पूरा वृत्तान्त सुनाया और सीता का पता भी बताया । उसकी यह दुर्दशा देख तथा जटायु की अटल भक्ति को देखकर राम को दया आई और

जटायु के प्राण छूटने पर राम ने अपने हाथों उसका दाह-संस्कार किया। धन्य हो भक्तवत्सल भगवान ! जटायु को इस प्रकार अपनी भक्ति के कारण, स्वर्ग प्राप्त हुआ।

दधीचि

दधीचि ब्रह्मज्ञानी ऋषि थे। कहा जाता है कि एक समय अश्विनीकुमारों ने दधीचि से ब्रह्मज्ञान का उपदेश देने की प्रार्थना की। उस समय दधीचि तपस्या में थे। उन्होंने उन कुमारों से कहा—आप लोग किसी अन्य समय आइये तो मैं अवश्य ब्रह्मज्ञान का उपदेश आप लोगों को दे दूँगा। अश्विनीकुमारों के चले जाने पर इन्द्र भगवान दधीचि ऋषि के पास पहुँचे और कहा—‘आप इन्हें यदि ब्रह्मज्ञान का उपदेश देंगे तो मैं आपका सिर काट डालूँगा; क्योंकि ये दोनों वैद्य हैं।’ इन्द्र के चले जाने पर अश्विनीकुमार दधीचि के पास ठीक समय पर पहुँचे। दधीचि ने इन्द्र का पूरा वृत्तान्त कह सुनाया। अश्विनीकुमारों ने कहा—‘आप चिन्ता न कीजिये। हम लोग वैद्य हैं, हम पहले से ही आपका सिर काटकर घोड़े का सिर लगा देते हैं और उससे आप उपदेश दीजिये। जब इन्द्र आपके घोड़े का सिर काट डालेंगे तो हम आपका असली सिर जोड़ देंगे। दधीचि ने वैसा ही किया, जिसके कारण उन्हें ‘अश्व शिर’ भी कहते हैं।

एक समय की बात है कि देवता लोग दैत्यराज वृत्रासुर के आघातों से परेशान थे। वह सभी देवताओं के शस्त्रों को ही निगल जाया करता था। परेशान होकर सभी देवता भगवान विष्णु की शरण में गये। विष्णु भगवान ने कहा—‘इसका एक ही उपाय है। आप सब लोग दधीचि के पास जाइये। उनका शरीर तपस्या के कारण कठोर और मजबूत हो गया है। उनकी हड्डी का यदि वज्र बनाया जायगा तो उसी से वृत्रासुर मर सकेगा।’ भगवान के ऐसा कहने पर इन्द्र के नेतृत्व में सभी देवता दधीचि के आश्रम पर पहुँचे। देवताओं ने विधिवत् दधीचि की स्तुति की और बोले—‘महात्मन्’ ! आप अपनी हड्डी हमें दान करने की कृपा करें। हमारा कल्याण बस इसीमें है।’ इस प्रकार देवताओं की याचना सुनकर दधीचि गद्गद हो गये और विनम्र होकर बोले—‘यह शरीर तो नश्वर है। मानव-शरीर किसी काम का नहीं होता, यदि मेरे इस शरीर से

किसी का लेशमात्र भी उपकार हो जाता है तो यह परम सौभाग्य ही की बात है। इस समय मैं अपने को धरम धन्य समझ रहा हूँ।'

इस प्रकार कहकर दधीचि ने भगवान में आत्मा को लीन किया और क्षण मात्र में साँप की केंचुल की तरह शरीर को छोड़ दिया। ब्रह्मा ने तुरत उनकी हड्डियों का वज्र बनाकर तैयार किया। सभी देवगण हर्षित मन वापस आये। वृत्रासुर-संग्राम पुनः प्रारम्भ हुआ। इस बार वृत्रासुर की एक न चली और दधीचि की हड्डियों के वज्र से इन्द्र ने वृत्रासुर का सिर काट दिया। इस प्रकार वृत्रासुर को देवताओं द्वारा ब्रह्मगति मिल गई। दधीचि जैसी महान् आत्माओं के कारण ही भारतवर्ष शिरमौर माना जाता है।

द्रोणाचार्य-द्रुपद

द्रोणाचार्य भरद्वाज ऋषि के पुत्र थे। एक बार हरिद्वार में भरद्वाज मुनि स्नान को गये थे। उसी समय घृताची के सौन्दर्य और मोहिनी रूप को देखकर उनका मन डोल गया। परिणाम यह हुआ कि भरद्वाज मुनि का वीर्य वहीं स्वयं स्खलित हो गया और मुनि ने वीर्य को उठा कर एक द्रोण अर्थात् दोने में रख दिया। उसी वीर्य से द्रोणाचार्य जी उत्पन्न हुए। दोने (द्रोण) से पैदा होने के कारण इनका नाम द्रोण पड़ा।

ऋषिपुत्र होने के नाते इनका संस्कार भरद्वाज के ही आश्रम पर हुआ। बड़े होने पर द्रोण तथा राजकुमार द्रुपद ने महर्षि अग्नि-वेश से धनुर्विद्या सीखी। द्रोण और द्रुपद इस प्रकार गुरुभाई थे तथा दोनों में गाढ़ी मित्रता भी थी।

समय बदल गया। द्रुपद राजा और द्रोणाचार्य को पिता की मृत्यु के बाद आश्रम की जिम्मेदारी संभालनी पड़ी। द्रोणाचार्य ने काफी दिन तक तप और अध्ययन किया। फिर इसके बाद पुत्रेच्छा से कृपाचार्य की बहिन कृपी से विवाह किया और एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ, जिसका नाम अश्वत्थामा पड़ा। द्रोणाचार्य का समय गरीबी में बीतने लगा। इसी समय उन्होंने सुना कि परशुराम जी अपना सर्वस्व लुटा रहे हैं। द्रोणाचार्य भी अपने शिष्यों के साथ महेन्द्राचल पर पहुँचे। परशुराम जी को अपना परिचय और उद्देश्य बतलाया। परशुराम जी ने कहा—'आपने देरी की' अब मेरे पास कुछ नहीं बचा। केवल

‘शरीर और अस्त्र ही बचे हैं ।’ अब क्या था, द्रोणाचार्य जी को अस्त्र प्राप्त करने का अवसर मिल गया । द्रोणाचार्य ने प्रयोग, उपसंहार और रहस्य सहित सभी अस्त्रों को परशुराम से प्राप्त कर लिया । अब तो विश्व में द्रोणाचार्य के जोड़ का कोई अस्त्रों का जानकार नहीं रह गया ।

इसी समय द्रोणाचार्य धन की इच्छा से अपने बालमित्र राजा द्रुपद के यहाँ पहुँचे और उसे अपना परिचय दिया । द्रुपद बड़ा घमण्डी हो गया था । उसने कहा—‘अभी तुम्हारा लड़कपन नहीं गया । एक दरिद्र और राजा में मित्रता कैसी ?’ द्रोण को बात गोली सी लगी । निराशा और क्षोभ के साथ वे वहाँ से वापस आये । नौकरी की इच्छा से हस्तिनापुर पहुँचे । वहाँ कृपाचार्य कौरव-पाण्डवों को धनुर्विद्या सिखा रहे थे । द्रोण ने वहाँ पहुँचकर अपनी धनुर्विद्या के चमत्कार दिखाकर भीष्म को अपना परिचय दिया । भीष्म ने द्रोणाचार्य को कौरव-पाण्डवों का धनुर्विद्या-शिक्षक नियुक्त कर दिया । इसी के साथ-साथ द्रोणाचार्य अपने पुत्र अश्वत्थामा को विद्या सिखाते चल रहे थे ।

शिक्षा समाप्त होने पर गुरु ने शिष्यों से गुरु-दक्षिणा माँगी । पाण्डव तैयार हो गये । द्रोणाचार्य ने कहा—‘गुरु-दक्षिणा मैं मैं धन नहीं चाहता हूँ । तुम सभी राजा द्रोण को पकड़कर मेरे पास ले आओ ।’ सभी पाण्डव द्रोणाचार्य को प्रसन्न करने के लिये राजा द्रुपद के राज्य में पहुँचे । घोर संग्राम हुआ । अन्त में राजा की हार हुई और अर्जुन ने द्रुपद को बाँधकर द्रोणाचार्य के सामने पेश किया । यह होनहार की ही बात है कि जिस द्रुपद को बाँधकर अर्जुन ने द्रोणाचार्य को प्रसन्न किया था, उसी द्रुपद ने अर्जुन को अपनी बेटी व्याही और जिस द्रोणाचार्य को प्रसन्न करने के लिए अर्जुन ने यह सब किया, वही द्रोणाचार्य महाभारत में पाण्डवों के विरुद्ध कौरवों की ओर से लड़े ।

द्रोणाचार्य ने बँधे हुए द्रुपद को उनकी पुरानी अपमान की बातें याद करायी और कहा—‘तुम दरिद्र से मित्रता नहीं करते हो, इसीलिए अब मैं तुम्हारा आधा राज्य लिये लेता हूँ, ताकि मैं भी आपके बराबर हो जाऊँ और मित्रता फिर से जुड़ जाय ।’ इसके बाद से द्रोणाचार्य के पास भी काफी सम्पत्ति हो गई ।

द्रोणाचार्य कौरवों के यहाँ नौकर थे, फिर भी दुर्योधन की दुष्टता की

आलोचना करते तथा पाण्डवों के विरुद्ध किये गये अन्याय को सह न पाते थे। वे अर्जुन को बहुत चाहते थे। किन्तु द्रोणाचार्य के यह प्रयत्न दुर्योधन के पक्ष में पक्षपात माने जाते थे। द्रोणाचार्य ने लाख प्रयत्न किया कि कौरवों-पाण्डवों का युद्ध न हो, किन्तु होनी होकर ही रही। वे अपने शिष्य पाण्डवों पर हथियार भी न उठाना चाहते थे; किन्तु भविष्य ने वह भी करा डाला। परन्तु द्रोणाचार्य ने दुर्योधन से स्पष्ट कह दिया था कि—‘हृदय हमारा पाण्डवों की ओर ही रहेगा, केवल शरीर तुम्हारी ओर से नमक अदा करने के उद्देश्य से मार-काट करेगा। इसीलिए उन्होंने शरीर से दुर्योधन की ओर युद्ध किया और हृदय से आशीर्वाद पाण्डवों को दिया, जिससे उनकी विजय हुई। नमक-अदायगी में उन्होंने पूरी कला और शक्ति के साथ युद्ध किया और पाण्डवों के हथके छुड़ा दिये।

घबराकर पाण्डवों ने आचार्य से ही उनकी हार का उपाय पूछा तो उन्होंने कहा—‘जब तक मेरे हाथ में धनुष-बाण हैं तथा जीवन का मोह है, तब तक मुझे जीतना असम्भव है।’ तब एक चाल चली गई। आचार्य जी अपने पुत्र को बहुत चाहते थे। अफवाह उड़ा दी गई कि अश्वत्थामा मर गया। आचार्य को विश्वास न हुआ तो उन्होंने कहा कि यदि युधिष्ठिर कह दें तो मान लें। बहकाकर युधिष्ठिर से कहलाया गया। उन्होंने जोर से तो कहा ‘अश्वत्थामा मरा’ और धीरे से कहा ‘नरो वा कुञ्जरो वा’ अर्थात् अश्वत्थामा नाम का हाथी मारा गया। इसी समय धृष्टद्युम्न ने धड़ से आचार्य का सिर उड़ा दिया। उस समय उनकी अवस्था ८५ वर्ष की थी। धृष्टद्युम्न द्रुपद का पुत्र था उसका जन्म ही बाप का बदला लेने को हुआ था।

द्रौपदी

द्रौपदी पाञ्चाल देश के राजा द्रुपद की पुत्री थी। द्रुपद वचपन के द्रोणाचार्य के मित्र थे। किन्तु राजा हो जाने पर उन्होंने एक दिन द्रोणाचार्य का अपमान किया था। इसी कारण समर्थ होने पर बदला लेने की इच्छा से द्रोणाचार्य ने अपने अर्जुन आदि शिष्यों द्वारा द्रुपद को हराकर बंधवाया तथा आधा राज्य ले लिया। तब से राजा बड़े चिन्तित रहने लगे। उन्हें पुत्र की

इच्छा हुई, ताकि वह पुत्र अपने बाप का बदला द्रोणाचार्य से ले सके। इसी उद्देश्य से राजा द्रुपद ने पुत्रेष्टि यज्ञ कराया। यज्ञ के हवन से अग्निशिखा से एक सुसज्जित पुरुष उत्पन्न हुआ। उसका नाम धृष्टद्युम्न रखा गया। उसी अग्नि से अद्वितीय सौन्दर्यवाली एक कन्या भी उत्पन्न हुई। कन्या का वर्ण काला था, इसलिए उसका नाम कृष्णा पड़ा। यही कन्या द्रौपदी के नाम से प्रसिद्ध हुई, जो साक्षात् लक्ष्मी की अवतार थी। इस प्रकार राजा द्रुपद को दो सन्तानें धृष्टद्युम्न एवं द्रौपदी मिलीं।

धीरे-धीरे द्रौपदी के विवाह का समय आया। द्रौपदी रूप और सौन्दर्य में अद्वितीय क्षत्रिय द्रुपद की अयोनिजा कन्या थी। राजा द्रुपद की यह लालसा थी कि द्रौपदी का विवाह अर्जुन जैसे बली पुरुष के साथ ही हो, पर यह विचार वे किसी से कह नहीं सकते थे। उन दिनों यह अफवाह उड़ चुकी थी कि सभी पाण्डव लाक्षाग्रह में भस्म हो गये। कुछ भी हो, विवाह तो होना ही था।

राजा ने एक ऐसा धनुष बनवाया, जो अर्जुन के अतिरिक्त किसी से न उठ सके। पाँच बाण रखे और द्रौपदी के स्वयंवर की घोषणा की। चारों ओर निमंत्रण एवं सूचनाएँ पहुँचने लगीं। स्वयंवर-मण्डल की आलीशान तैयारी की गई। राजा-महाराजा आने लगे।

इन दिनों पाण्डव वन में अज्ञातवास कर रहे थे। वे ब्राह्मण का रूप धारण करके अपनी माता कुन्ती के साथ वन में इधर-उधर घूमते और माँगते-खाते थे। कुछ ब्राह्मणों द्वारा उन्हें भी स्वयंवर का समाचार मिला। व्यासदेव उन्हें इसके पूर्व ही सुभाष दे चुके थे तथा द्रौपदी के सौन्दर्य का वर्णन कर चुके थे। स्वयंवर की सूचना पाकर वेष बदलकर ब्राह्मण-रूप में पाँचों पाण्डव भी पाञ्चाल पहुँचे। वहाँ जाकर उन सबों ने पाञ्चाल में राजग्रह के निकट ही एक कुम्हार के घर में डेरा डाल दिया और ठीक समय पर राजा द्रुपद की स्वयंवर-सभा में पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने ब्राह्मणों के बीच में विधिवत् आसन ग्रहण किया।

सब तैयारी पूर्ण हो जाने तथा राजाओं के बैठ जाने पर द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न ने घोषणा की कि—‘यह एक धनुष तथा पाँच बाण रखे हैं। यह नीचे खौलते हुए तेल का कड़ाह है और ठीक इसके ऊपर चक्राकार में घूमते हुए चक्र पर एक मछली है। जो वीर इस धनुष-बाण से मछली की परछाई तेल में

देखकर नीचे की ओर देखता हुआ ऊपर मल्लू की वेध देगा, उसी के साथ द्रौपदी का विवाह होगा।' इस घोषणा को सुनकर जितने राजा इस उद्देश्य से आये हुए थे, सबों ने प्रयत्न किया, किन्तु धनुष की डोरी तक नहीं चढ़ा सके और निराश हो-हो कर वापस गये। इसके बाद ब्राह्मण-वेषधारी अर्जुन उठे। उन्होंने क्षणभर में धनुष चढ़ाकर मल्लू की वेध दिया। यह अद्भुत कार्य देख सभी चकित रह गये। इस प्रकार अर्जुन ने द्रौपदी को प्राप्त किया और द्रौपदी को लेकर कुम्हार के घर रात हो जाने पर पहुँचे।

अपने डेरे पर पहुँचकर अर्जुन ने बाहर ही से माताजी को आवाज देकर कहा कि—'माँ, भिक्षा ले आये।' कुन्ती अन्दर थीं। बिना देखे ही रोज की तरह कह दिया—'ठीक है बेटा, पाँचों भाई वाँटकर खा लो।' माता का वाक्य ब्रह्मवाक्य था। बाहर आकर कुन्ती ने जब द्रौपदी को देखा तो सूख गई और सोचने लगी 'बड़ा अनर्थ हुआ' दौड़ी धर्मराज युधिष्ठिर के पास गई और अपनी भूल बतायी। युधिष्ठिर ने अनुमोदन किया किया कि जो आपके मुँह से निकल गया वह तो होना ही है। यही धर्म है।

इधर द्रौपदी के जीतनेवाले का पता लगाने के विचार से द्रौपदी का भाई धृष्टद्युम्न भी गुप्त रूप से अर्जुन के पीछे-पीछे चला आया था। उसने इन सबों की रात में होनेवाली सारी बातों को सुना और जाकर द्रुपद से सब कह सुनाया। इससे उन्हें यही अनुमान हुआ कि ये लोग ब्राह्मण तो नहीं ही थे। पर कौन थे, यह पता न चल पाया। तो चिन्तित राजा ने एक ब्राह्मण को दामाद का स्वागत तथा द्रौपदी का विधिवत् विवाह करने के लिए अपने महल में बुलाया। सब पाण्डव भी कुन्ती सहित वहाँ पहुँचे। राजा ने युधिष्ठिर से इनका असली परिचय पूछा और युधिष्ठिर ने पूरी कहानी सच-सच बता दी। उन्हें पाण्डव जानकर राजा को अपार हर्ष हुआ और लालसा पूर्ण हो गई। विवाह की तैयारी होने लगी। अर्जुन के साथ विवाह करने की तैयारी की गई। इसी समय धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा कि—'हम पाँचों भाई का विवाह द्रौपदी से होगा। हम लोग माता की आज्ञा से इन्हें वाँट चुके हैं।' यह सुनकर राजा दंग रह गये और बोले—'एक पुरुष के तो कई स्त्री होना सुना है, परन्तु एक स्त्री के कई पति होना तो मैंने नहीं सुना है। यह तो सर्वथा अनुचित एवं शास्त्र-विरुद्ध है।'।

दिवाद चल पड़ा। इसी समय व्यासदेव प्रकट हुए। यथोचित स्वागत के बाद व्यासदेव से इस प्रश्न को पूछा गया। तब व्यासजी द्रुपद से बोले—‘आप नहीं समझ रहे हैं। द्रौपदी को पाँच पतियों की पत्नी होना है, उसे पूर्वजन्म में ऐसा वरदान मिल चुका है। देवताओं की ऐसी आज्ञा है, तभी तो यह आपके यहाँ अग्नि से जनमी है। सुनिये, वह कथा इस प्रकार है।

पूर्व समय में एक दिन की बात है कि सभी देवता लोग यज्ञ कर रहे थे। उसी समय उन्होंने देखा कि गंगाजी में एक सोने का कमल बहता जा रहा है। यह देखकर देवताओं को आश्चर्य हुआ और इन्द्रदेव इसे जानने के लिए उठे और कमल के पास आये। उन्होंने देखा कि गंगाजी के स्रोत के पास एक अत्यन्त सुन्दरी युवती रो रही है। इन्द्र उस समय युवती के पास पहुँचे और देखा कि वह रो रही है और उसके आँसू पानी में गिरकर स्वर्ण-कमल बनते जा रहे हैं। इन्द्र ने उससे रोने का कारण पूछा तो उसने कहा—‘हमारे साथ आइये। मेरे रोने का कारण स्वयं मालूम हो जायगा।’ वह स्त्री इन्द्र को लेकर एक चट्टान के पास पहुँची और चट्टान की ओर इशारा किया। इन्द्र ने देखा कि कोई युवक एक परम सुन्दरी के साथ जुआ खेल रहा था। देवताओं के राज्य में यह कर्म करते देख इन्द्र को क्रोध आ गया और डाँटकर उस पुरुष को बुलाया। उसने इन्द्र की ओर आँख उठा कर देखा ही था कि इन्द्र सूखे हुए ठूँठ के समान निश्चेष्ट हो गये। इसके बाद उस युवक ने उस रोती हुई स्त्री से कहा—‘उसे यहाँ पकड़कर ले आओ।’ उस स्त्री के स्पर्श करते ही इन्द्र गिर पड़े। इन्द्र की यह हालत देखकर वह युवक उठकर इन्द्र के पास आया। उसने इन्द्र से कहा, इस गुफा की चट्टान हटाओ और देखो तुम्हारे जैसे चार इन्द्र इसमें और कैद हैं।’ वह युवक साक्षात् भगवान शंकर थे और रोती हुई स्त्री साक्षात् लक्ष्मी थीं। इन्द्र के घमण्ड को चूर करने के लिए ही शंकर जी ने यह सब किया था। शंकर भगवान ने कहा—‘इन्द्र, अब तुम भी इन्हीं चारों इन्द्रों के साथ हो। अब सबकी एक ही गति होगी। अब तुम पाँचों को मनुष्य-योनि में जन्म लेना पड़ेगा। और यह स्त्री भी मनुष्य-लोक में जायगी और तुम पाँचों को इसका पति बनना पड़ेगा। वहाँ रहकर अधर्म का नाश करके

तुम सभी फिर स्वर्ग लोक चले आओगे।' वही पाँचों इन्द्र इस युग में पाँचों पाण्डव हुए तथा वह स्त्री द्रौपदी।

व्यासजी ने द्रुपद से इसी प्रकार की एक दूसरी भी कथा बताई। पूर्व समय में एक ऋषि की परम सुन्दरी कन्या थी। वह इतनी सुन्दर थी। कि उसे उसके जोड़ का कोई वर ही न मिला। तो उसने भगवान शंकर की आराधना की। शंकर जी प्रसन्न हुए और उसकी इच्छा जानकर उससे वरदान माँगने को कहा। उसने कहा—'मुझे योग्य पति मिले।' संयोगवश यह वरदान उसके मुँह से पाँच बार निकला और पाँचों बार शंकर ने स्वीकार कर दिया। इस प्रकार उसे पाँच पतियों का वरदान मिल गया। वही कन्या इस जन्म में द्रौपदी हुई।

इस प्रकार व्यासदेव के मुँह से द्रौपदी के पूर्वजन्म की कथा सुनकर राजा द्रुपद को बड़ा आश्चर्य एवं आनन्द हुआ। और उन्होंने पाँचों पाण्डवों के साथ एक-एक दिन के अन्तर से विवाह कर दिया और एक सुन्दर महल तथा धनधान्य देकर अपने ही यहाँ रख लिया। इसी समय दुर्योधन आदि को इसका पता चला। विदुर और भीष्म के समझाने-बुझाने पर धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को अपने यहाँ बुला लिया और उन्हें आधा राज्य दे दिया। अब पाण्डव हस्तिनापुर गये और खाण्डव-प्रस्थ में राजधानी बनाकर राज्य करने लगे।

इस प्रकार द्रौपदी का गृहस्थ जीवन चलने लगा। पाँचों पाण्डवों से द्रौपदी के पाँच पुत्र हुए। किन्तु उसे अपने पुत्रों का सुख देखने को न मिला। उन्हें अश्वत्थामा ने सोते में मार डाला। किन्तु जब अश्वत्थामा द्रौपदी के सामने लाया गया तो द्रौपदी ने उसे क्षमा ही कर दिया। इस प्रकार द्रौपदी ने भारतीय नारी का आदर्श उपस्थित किया।

द्रौपदी परम ईश्वर भक्त थीं। पतिव्रता और ईश्वर-भक्ति दोनों ही उनके जीवन के अंग थे। पाँच पति होते हुए भी द्रौपदी ने उनकी सेवा में कोई कसर न रखी। दुर्योधन की सभा में जब द्रौपदी की साड़ी दुःशासन खींचने लगा तो द्रौपदी अश्रुभरे नेत्रों से भगवान का स्मरण करने लगीं। भगवान की महिमा कि दुःशासन खींचते-खींचते थक गया, परन्तु साड़ी का जो भाग द्रौपदी के शरीर पर था, वह वहीं रहा और दुःशासन के खींचने से साड़ियों का ढेर लग गया।

साड़ी बढ़ती ही गई, कभी खतम न हुई। जब दुःशासन पसीने से लथपथ हो गया तो थककर हार मानकर बैठ गया। भगवान की इस महिमा की भी एक कथा है।

एक समय जब श्रीकृष्ण ने अपना सुदर्शन-चक्र चलाया तो संयोगवश उनकी अँगुली में खुरेच लग गई और खून बहने लगा। चक्र युधिष्ठिर के यज्ञ में शिशुपाल को मारने के लिए चलाया था। यह देखकर पाण्डवों की अन्य रानियाँ तो अँगुली में बाँधने के लिए अन्य कपड़े ढूँढ़ने दौड़ीं पर द्रौपदी ने अपनी साड़ी से ही एक चिट चीरकर कृष्ण की अँगुली में बाँध दी। उसी समय द्रौपदी का यह प्रेम देखकर भगवान ने मन ही मन प्रसन्न होकर वचन दे दिया था कि तुम्हें इसके बदले में साड़ियाँ ही दूँगा। उसी का फल था कि द्रौपदी के चीर-हरण में कृष्ण ने उसकी साड़ी को अनन्त कर दिया था।

दशरथ

दशरथ अयोध्या के राजा थे। ये इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय थे। दशरथ की तीन रानियाँ थीं—कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी। कैकेयी अन्तिम रानी थीं, इसलिए दशरथ उन्हें अधिक प्यार करते थे। कहा जाता है कि दशरथ एक बार युद्ध पर गये थे तो कैकेयी भी उनके साथ गई थीं। संयोगवश लड़ाई में राजा के रथ का धुरा टूट गया। उस समय कैकेयी ने अपने हाथ से रथ का पहिया संभाला। राजा कैकेयी के इस कार्य से बहुत प्रसन्न हुए और वर माँगने का आदेश दिया। कैकेयी ने दो वर माँगा, पर उन्हें सुरक्षित रखा और कहा कि जब आवश्यकता पड़ेगी, तब मैं दोनों वर माँगूँगी। वही दोनों वर कैकेयी ने देवताओं की प्रेरणा से राम के राज्याभिषेक के समय माँगा था। एक में राम का वनवास और दूसरे वर में भरत के लिए राजगद्दी।

राजा दशरथ शिकार के बड़े शौकीन थे एवं धनुर्विद्या में अत्यन्त निपुण। वह शब्द पर बाण मारते थे और बाण ठीक शब्द करनेवाले को लगते थे। एक दिन राजा शिकार खेलने जंगल में गये। एक मृग का पीछा करते-करते अपने डेरे से काफी दूर चले गये। मृग तो भाग गया और राजा एक पानी के नाले के किनारे भटक गये। ठीक इसी समय सरपतों की आड़ से

पानी में से आवाज आई। राजा ने समझा कि कोई मृग पानी पी रहा है, और शब्दवेधी बाण मारा। किसी मनुष्य के आह की तथा गिरने की आवाज आई। राजा के तो होश उड़ गये और सीधे नदीतट पर दौड़े गये। वहाँ देखा तो एक युवक बाण से आहत पड़ा तड़प रहा है। राजा ने उसे भट उठाया और उसका परिचय पूछा। बालक ने बताया—‘मेरा नाम श्रवणकुमार है। मैं वैश्य-बालक हूँ। मेरे माता-पिता दोनों अन्धे हैं और मैं उन्हें तीर्थ कराने के लिए बहँगी बनाकर अपने कन्धों पर लिए घूम रहा था। यहाँ उन्हीं के लिए पानी लेने आया था। वे दोनों उस पेड़ के नीचे पड़े हैं। अच्छा, अब आप यह पानी उन्हें पिला आये तथा मेरे बाद उनकी देख-भाल करें।’ इतना कहकर श्रवणकुमार ने आँखें मूँद लीं।

राजा दशरथ पानी लेकर श्रवणकुमार के माँ-बाप के पास पहुँचे। पूरा विवरण रो-रोकर सुनाया। पुत्र के मृत्यु की बात सुनते ही तो माँ-बाप के दिल पर बिजली दूट पड़ी, अत्यन्त दुखी हुए। पानी भी नहीं ग्रहण किया। क्रोधित होकर शाप दिया कि—‘बुढ़ापे में तुने हमारे पुत्र का वध करके हमें पुत्रशोक दिया है। जाओ, तुम भी इसी प्रकार बुढ़ापे में पुत्रशोक से मरोगे।’ राजा दशरथ तो निस्सन्तान थे, पर शाप पाकर उन्हें कुछ आशा हुई कि शाप मिथ्या नहीं हो सकता।

इधर राजा दशरथ ने सन्तान-प्राप्ति की इच्छा से पुत्रेष्टि यज्ञ किया। यज्ञ से अग्निदेव प्रकट हुए और राजा को ‘पायस’ भेंट किया और कहा कि इसे अपनी रानियों को खिला दोगे, तो तुम्हें पुत्र-प्राप्ति होगी। दशरथ ने उस पायस का आधा भाग तो कैकेयी को और आधा भाग बड़ी रानी कौशल्या को दिया, पर सुमित्रा को देना भूल गये। खैर, रानियों ने भूल सुधार दी और कौशल्या तथा कैकेयी ने अपने-अपने से आधा-आधा भाग सुमित्रा को दिया। इसीलिए सुमित्रा के दो पुत्र लक्ष्मण और शत्रुघ्न तथा कौशल्या के केवल राम और कैकेयी के भरत उत्पन्न हुये। इस प्रकार राजा को चार पुत्र प्राप्त हुये।

शाप वरदान में तो अवश्य परिणत हो गया, पर अन्त में शाप ही रहा। बुढ़ापे में दशरथ को अपने प्रिय पुत्र राम और लक्ष्मण के वियोग से दुःखित होकर प्राण छोड़ना ही पड़ा।

ध्रुव

ब्रह्मा के पुत्र स्वायंभुव मनु थे। उनकी पत्नी थीं शतरूपा। मनु और शतरूपा से उत्तानपाद और प्रियव्रत दो पुत्र हुए। उत्तानपाद राजा हुए। उनकी दो रानियाँ थीं। सुरुचि और सुनीति। राजा उत्तानपाद सुरुचि से अधिक प्रेम रखते थे। सुरुचि के एक पुत्र था उत्तम और सुनीति के एक पुत्र ध्रुव था।

एक दिन की बात है कि राजा उत्तानपाद सुरुचि के पुत्र उत्तम को गोद में लिये बैठे थे। उसी समय खेलता हुआ ध्रुव भी आ पहुँचा और झपटकर राजा की गोद में बैठ गया। राजा ने ध्रुव को भी उतना ही प्यार किया, जितना उत्तम को करते थे। पास ही खड़ी सुरुचि ने जब देखा कि सवति का पुत्र ध्रुव भी मेरे ही पुत्र उत्तम के बराबर राजा की गोद में बैठा है तो उसे बड़ी सवतियाडाह और ईर्ष्या हुई। उसने झट दौड़कर राजकुमार ध्रुव को राजा की गोद से झिझकाकर उतार दिया और बोली, 'अभागे, तू मेरे पुत्र की बराबरी कैसे कर सकता है?'

ध्रुव की उम्र अभी पाँच वर्ष की ही थी। ध्रुव इस झिझक को न सह सके और बाल-सुलभ रोआई से रोते हुए माताजी के पास पहुँचे। माता को भी पुत्र के अपमान पर गोली सी लगी। वह मन ही मन कुढ़कर रोने लगी, पर करती ही क्या? राजा उत्तानपाद सुरुचि को ही अधिक मानते थे और सुनीति को कम। तब माता ने ध्रुव को समझाया 'बेटा! इस दुनिया में किसी के प्रेम में क्या रखा है? यहाँ के अपमान और अनादर का कोई महत्त्व नहीं। तू उस परमपिता भगवान से प्रेम कर। यदि भगवान तुम से प्रसन्न हैं तो मनुष्य तुम्हारा कुछ नहीं कर सकता।' माता की बातें बालक ध्रुव के मन में बैठ गईं और बालक ने पूछा 'माता! भगवान कहाँ और कैसे मिलेंगे।' माता ने बताया कि जंगल में कठोर तपस्या से भगवान मिलते हैं।

उसी क्षण माता की आज्ञा मानकर बालक ध्रुव वन की ओर चल पड़ा। वहाँ पहुँचकर उसने एक वरगद के नीचे समाधि लगायी। उसकी तपस्या का समाचार स्वर्ग तक फैल गया। नारद जी वहाँ से चले ध्रुव की परीक्षा लेने। नारद जी ने नाना प्रकार के खतरों और कष्टों को बताया, पर ध्रुव ने एक न सुनी और तपस्या में लग गये।

कठोर तप करने के बाद ध्रुव को सफलता मिली। भगवान ने दर्शन दिया। ध्रुव ने वरदान माँगा कि 'परिवार सहित स्वर्ग मिले।' भगवान ने 'तथास्तु' कहा। अन्त में ध्रुव के प्रभाव से परिवार को स्वर्ग मिला। आज भी ध्रुव आकाश में ध्रुव तारे के नाम से स्थित हैं।

नल-दमयन्ती

निषध देश में वीरसेन नाम के राजा थे। उनके नल और पुष्कर नाम के पुत्र थे। नल ज्येष्ठ और सर्वगुण-सम्पन्न योग्य थे। इसलिए नल राज्याधिकारी हुए। नल सर्वगुण-सम्पन्न, अश्वविद्या में सबसे अधिक निपुण (घोड़े की सवारो और रथ हाँकने में सबसे निपुण), सर्वाधिक सुन्दर, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, सर्वप्रिय, विद्वान्, वेदज्ञ, ब्राह्मणभक्त, प्रजापालक, दयालु, चतुर सैनिक, वीर और महान् योद्धा, अक्षौहिणीपति, जुए के शौकीन, उदार और साक्षात् मनु के समान पराक्रमी और तेजस्वी थे। उनके इन गुणों की चर्चा सर्वत्र फैल चुकी थी।

इधर विदर्भ देश में भीम नाम के राजा थे। उनके संयोगवश कोई सन्तान न थी। एक समय उनके महल में दमन नाम के ब्रह्मर्षि आ पहुँचे। राजा ने उनका यथोचित सत्कार किया। जिससे प्रसन्न होकर ब्रह्मर्षि ने आशीर्वाद दिया कि—तुम्हारे एक परमसुन्दरी विश्वविख्यात कन्या और तीन पुत्र होंगे। ऋषि का आशीर्वाद सत्य हुआ और यथोचित समय में उन्हें एक कन्या और तीन पुत्र प्राप्त हुए। कन्या का नाम दमयन्ती और पुत्रों का नाम दम, दान्त और दमन विख्यात हुआ।

दमयन्ती सर्वांगसुन्दरी, लावण्यमयी, गुणवती, भाग्यशालिनी, देवता, यक्ष, किन्नर आदि को भी मुग्ध करनेवाली हुई। उसके रूप और गुणों की समता करनेवाली कोई दूसरी कन्या अब तक जन्मी न थी। वह कन्या राजा के लिए एक समस्या हो गई कि उसके समान सुन्दर और गुणोंवाला वर ही न मिल रहा था। नल के अतिरिक्त और कोई दूसरा वर दमयन्ती के योग्य इस दुनिया में न था। स्वभावतः यह चर्चा, अर्थात् दोनों के रूप और गुणों की चर्चा यत्र-तत्र फैलने लगी। उत्सुक व्यक्ति कुतूहलवश नल के सामने दमयन्ती

की चर्चा करने लगे और स्त्रियाँ दमयन्ती के सामने नल की चर्चा करने लगीं । फल यह हुआ कि दूर ही दूर से सुनते-सुनते ही नल और दमयन्ती के दिलों में एक-दूसरे के प्रति अनुराग का बीजांकुर होने लगा । दोनों ही एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होने लगे । दोनों ही स्वभावतः एक-दूसरे को देखने के लिए मन ही मन छटपटाया करते थे ।

एक दिन राजा नल दमयन्ती की चिन्ता में कल्पनामग्न होकर रनवास के बगीचे में टहल रहे थे । उसी समय उन्होंने एक सुन्दर पंखोंवाले हंस को पकड़ा । हंस ने आर्त और विनम्र वाणी में नल से कहा—‘हे राजन् आप मुझे मारिये नहीं मैं आपका प्रिय करूँगा । मैं आपके दूत के रूप में दमयन्ती के पास जाकर आपके रूप और गुणों का बखान करूँगा और वह आप पर लट्टू हो जायगी ।’ हंस की इस बात को सुनकर तो नल का हृदय गद्गद हो आया और उसने उसे तुरन्त छोड़ दिया । ‘वह हंस अपने अन्य साथी हंसों के साथ आकाश-मार्ग से उड़कर विदर्भ देश पहुँचा । वे सीधे दमयन्ती के बगीचे में पहुँचे, जहाँ दमयन्ती अपनी सखियों सहित विहार कर रही थी । सुन्दर हंसों को देखकर दमयन्ती तथा उसकी साखियाँ हंसों के पीछे पकड़ने के लिए दौड़ने लगीं । वे जिस हंस के पास जातीं वही मनुष्य की वाणी में कहने लगता ‘हे सुन्दरी, नैषध देश के राजा नल मनुष्य, देव, यक्ष, किन्नर और नाग—सबसे सुन्दर और सर्वगुणसम्पन्न हैं । वे सर्वथा दमयन्ती के योग्य पति हैं । उनसे विवाह करके दमयन्ती का जीवन सफल हो जायगा ।’ इधर दमयन्ती ने पहले से ही नल की प्रशंसा सुन रखी थी । उसका मन खिंच गया और हंस से कहने लगी ‘आप ऐसा ही सन्देश नल से भी कहिये कि दमयन्ती आप पर पूर्ण रूप से अपने को न्योछावर कर चुकी है ।’ हंस ने ‘अच्छा’ कहकर प्रस्थान किया और नैषध देश में आकर नल से पूरा वृत्तान्त कह सुनाया ।

हंस के मुख से नल का वृत्तान्त सुनकर दिन-प्रति-दिन नल के प्रेम में विह्वल होकर दमयन्ती दुबली और उदास होने लगी । सखियों ने उसकी उदासी का समाचार राजा भीम को दिया । उस समय दमयन्ती पूर्ण यौवन की अवस्था पर थी । राजा उसके मर्म को तुरन्त समझ गये और उसके विवाह की बात सोचने लगे । कुछ सोच-विचार कर राजा भीम ने स्वयम्बर की तैयारी

कर दी तथा अन्यान्य राजाओं को स्वयम्बर में आने के लिए निमन्त्रण भेज दिया। नल भी दमयन्ती को पाने की आशा से चल पड़े।

इधर घूमते-घामते नारद जी इन्द्रलोक पहुँचे और इन्द्र, वरुण, अग्निदेव आदि देवताओं से दमयन्ती के रूप, गुण तथा स्वयम्बर आदि की चर्चा की। दमयन्ती के सौन्दर्य का वर्णन सुनकर देवताओं का भी मन ललचा गया। वे भी दमयन्ती के स्वयम्बर में आने को तैयार हो गये। अपने-अपने विमान सजाकर वे लोग भी आकाश-मार्ग से भूलोक की ओर चले। रास्ते में ऊपर से ही देवताओं ने नल को जाते हुए देखा। नल के आकर्षक रूप को तो देखते ही देवता लोग निराश हो गये कि नल को छोड़कर दमयन्ती अन्य किसी का भी वरण न करेगी। अब देवताओं ने अपने-अपने विमानों और वाहनों को आकाश में ही रोककर स्वयं भूमि पर उतरकर नल के पास जाकर कहा—‘हे नर-श्रेष्ठ ! तुम सत्यव्रती हो। दूत बनकर हमारा हित करो। तब नल ने हाथ जोड़ कर उनका परिचय, दूत-कार्य आदि के बारे में पूछा। इन्द्र ने कहा—‘हम इन्द्र, यमराज, अग्नि और वरुण आदि देवता हैं। दमयन्ती को प्राप्त करने के लिए भूमि पर आये हैं। तुम हमारा सन्देश दमयन्ती को दो कि देवता लोग तुम्हें चाहते हैं, इनमें जिसे चाहो, अपना पति वरण करो।’ इस पर नल ने उत्तर दिया कि—‘हम स्वयं भी दमयन्ती को ही पाने के लिए स्वयम्बर में जा रहे हैं। जिसे हम स्वयं चाहते हैं, उससे हम यह कैसे कह सकेंगे कि वह किसी अन्य को चुने। इसलिए आप हमें क्षमा करें। और भी बात है, दमयन्ती के रनिवास में सख्त पहरा होगा, हम वहाँ जा ही कैसे सकते हैं।’ पर देवताओं ने नल को वह दूत-कार्य करने के लिए बहुत बाध्य किया। और कहा—‘हमारे प्रभाव से तुम वहाँ सहज ही में पहुँच जाओगे। पहरे की चिन्ता मत करो।’ ‘जो आज्ञा’ कहकर अनिच्छा होते हुए भी नल देवताओं का सन्देश लेकर विदर्भ राज्य पहुँचे। देवताओं के प्रभाव से वे दमयन्ती के रनिवास में पहुँच गए और किसी को खबर तक न हुई।

राजा नल दमयन्ती के रनिवास में पहुँचे। दमयन्ती के रूप को देखते ही तो मन लुढ़क गया, पर प्रतिज्ञा निभाने के लिए मन का भाव छिपा लिया। उस ओर रनिवास की स्त्रियाँ भी राजमहल में पुरुष आया देखकर भट से उठ-

कर अपने कपड़े और अंग सँभालने लगीं। नल के रूप को देखकर दमयन्ती और सखियाँ भी मोहित हो गईं। दमयन्ती ने नल का परिचय और वहाँ आने का उद्देश्य पूछा। राजा नल ने पूरा वृत्तान्त कह सुनाया। और कहा कि अब जैसा आपके मन में आये, वैसा करें। दमयन्ती ने देवताओं को शीश झुकाकर प्रणाम करके कहा— 'हे नरश्रेष्ठ राजा नल ! मैं तो पहले से ही आप ही को मन ही मन संकल्प करके वरण कर चुकी हूँ। आप मेरे पति बन चुके हैं। भारतीय कन्याएँ एक ही बार पति का वरण करती हैं और उससे कमी पीछे नहीं हटती हैं। यदि आप मुझे विमुख कर देंगे तो मैं प्राण त्याग दूँगी। हाँ, आपको लाल्छन से मुक्त होने का एक उपाय है। आप इस स्वयम्बर में देवताओं के साथ आइयेगा और उनके सामने ही मैं आपके गले में जयमाल डाल दूँगी। इससे देवताओं की ओर से आप दोषी और विश्वासघाती न होंगे।' राजा नल वापस चले आये और चारों देवताओं से सत्य वृत्तान्त कह सुनाया। कुछ भी छिपाया नहीं।

जब स्वयम्बर में सभी राजा सज-धजकर बैठ गये तो दमयन्ती जयमाल लिये वहाँ लाई गई। सभी राजाओं का परिचय दिया गया। दमयन्ती ने देखा कि ठीक नल के रूप रंग के ही पाँच राजा स्वयम्बर में बैठे हैं। उसे तो नल के गले में जयमाल डालनी थी। अब वह हैरान होकर सोचने लगी कि 'वास्तव में उनमें से नल कौन है। वह समझ गई कि इनमें चार तो चारों देवता हैं और पाँचवें नल हैं, पर पहचानना असम्भव था। कोई रास्ता न देखकर मन ही मन दमयन्ती देवताओं की शरणागत हुई। उसने मन में ही देवताओं को नमस्कार करके कहा— 'देवगण, मेरा मन नल पर ही आसक्त है। मैं उन्हें अपने संकल्प से ही वरण कर चुकी हूँ, अब किसी अन्य पुरुष के गले में जयमाल डालना पाप होगा और मेरा पातिव्रत-धर्म नष्ट हो जायगा। इसलिए आप लोग मेरे धर्म की रक्षा करें और मेरे पति नल को अपने से अलग कर दें।' जब देवताओं ने दमयन्ती को जान लिया कि वह नल को ही वरण कर चुकी है तो वे उसके पातिव्रत-धर्म से अति प्रसन्न हुए। उन्होंने अपना-अपना रूप प्रकट कर दिया। दमयन्ती ने नल को पहचान कर उनके गले में जयमाल डाल दी और उन्हें विधिवत् अपना पति बनाया। अन्त में

देवताओं ने प्रसन्न होकर वर और दूल्हन को आशीर्वाद दिया। देवताओं ने नल को आठ वरदान दिया। इन्द्र ने कहा—‘हे नल, तुम मुझे प्रत्यक्ष देखोगे और अन्त को परमगति पाओगे।’ अग्निदेव ने कहा—‘तुम मुझे जहाँ स्मरण करोगे, मैं वहीं प्रकट होकर इच्छानुसार फल दूँगा।’ यमराज ने कहा—‘तुम जो रसोई बनाओगे, वह अत्यन्त स्वादिष्ट रहेगी और धर्म में तुम्हारी निष्ठा बनी रहेगी।’ वरुण ने कहा—‘तुम मुझे जब चाहोगे, उसीदम मैं पहुँच जाऊँगा।’ इस प्रकार वरदान देकर सभी देवता अपने लोक की ओर रवाना हुए और नल दमयन्ती के साथ अपनी राजधानी आये। नल-दमयन्ती परम आनन्द और सुख के साथ दाम्पत्य जीवन बिताने लगे।

इधर कलियुग भी द्वापर के साथ दमयन्ती को प्राप्त करने के लिए झूठा आ रहा था। रास्ते में इन्द्र आदि देवताओं से भेंट हुई और कलि ने दमयन्ती के स्वयम्बर का समाचार सुना। यह जानकर कि तमाम देवताओं को छोड़ दमयन्ती ने मनुष्य का वरण किया है, उसे बड़ा क्रोध आया और वह तुरन्त शाप दे देने पर तैयार हो गया; किन्तु इन्द्र ने बताया कि शाप देना उचित नहीं, क्योंकि दमयन्ती ने देवताओं की अनुमति से ही नल का वरण किया है किन्तु कलि का क्रोध शान्त न हुआ और इन्द्र के चले जाने पर वह सीधे नल के नगर पहुँचा, यह संकल्प करके कि वह नल को सुख न करने देगा। द्वापर को उसने सलाह दी कि—‘तुम जाकर पाँसे में प्रवेश करो और स्वयं नल को दूषित करने की ताक में लग गया।’

इस प्रकार ताक में रहते कलि को नल के नगर में ११ वर्ष बीत गये। नल इतने धर्मात्मा और शुद्ध थे कि कलि की उनके पास फटकने की हिम्मत नहीं पड़ी। ग्यारहवें वर्ष एक दिन नल से भूल हो गई। लघुशंका करके लौटे तो हाथ धो लिया पर पैर धोना नल भूल ही गये और वैसे ही पूजा पर बैठ गये। वस कलि को मौका मिल गया और भट से कलि नल के शरीर में प्रवेश कर गया और लगा नल की मति को भ्रष्ट करने। उधर कलि की कुमन्त्रणा से द्वापर पहले ही पाँसे में प्रवेश कर चुका था। अब क्या था, अब तो कलि की बन पड़ी। नल की बुद्धि धर्म-विरुद्ध और भ्रष्ट होने लगी। उधर नल का छोटा भाई पुष्कर नल को जुआ खेलने के लिए ललकारने लगा। नल पाँसे के शौकीन

तो पहले से ही थे। खेल प्रारम्भ हो गया। दमयन्ती ने नाना प्रकार से नल को मना किया पर नल ने एक न सुनी। भाग्य विरुद्ध हो चला। नल दाँव पर दाँव हारने लगे, क्योंकि वहाँ तो कलियुग का साम्राज्य था नल के विरुद्ध ! नल सारी सम्पत्ति हार गये। यह सर्वनाश देखकर नल के सारथि वाष्ण्य को बुलाकर दमयन्ती ने अपने दोनों बच्चों इन्द्रसेन राजकुमार और इन्द्रसेना राजकुमारी को नैहर भेज दिया और आदेश दे दिया कि रथ और घोड़े भी वहीं छोड़ देना। वाष्ण्य बच्चों को लेकर विदर्भ पहुँचा और इधर नल अपना सारा राज्य और धन-सम्पत्ति पाँसे में हार गये। अब क्या करते, एक साधारण धोतीमात्र पहन कर नगर के बाहर की ओर रवाना हो गये। पतिव्रता दमयन्ती भी अपने सब आभूषणों को उतारकर नल के पीछे-पीछे चली। दोनों दम्पति उदास और मलिन भाव से नगर के बाहर पहुँचे। इधर पुष्कर ने ढिंढोरा पिटवा दिया कि राज्य के अन्दर यदि कोई भी व्यक्ति नल-दमयन्ती को शरण देगा तो उसका सिर उड़वा दिया जायगा। इस प्रकार नल-दमयन्ती ने राज्य की सीमा में केदल जल पीकर तीन दिन बिताया। अब वे कन्द, मूल और फल की तलाश में जंगल की ओर चले।

यह है कलियुग का प्रभाव ! राजमहलों में सुख का भोग करनेवाले दम्पति आज कठिन जंगल में दाने-दाने को मोहताज फिर रहे हैं। क्या उन लोगों ने ऐसे दिन की भी कल्पना की होगी। कलि तो नल के शरीर में प्रवेश ही कर चुका था, किन्तु नल या दमयन्ती किसी को भी यह बात मालूम न हुई। इधर पुष्कर कलि की सहायता से राज्य करने लगा।

इस प्रकार भ्रष्टमति होकर नल जंगल में दमयन्ती के साथ घूमने लगे। विपत्तियों के बादल भाग्य के आकाश में मँड़राने लगे। इसी समय नल ने देखा कि कबूतरों का एक झुण्ड बैठा है, जिनके पंख सोने के हैं। नल की लार टपक पड़ी कि उनके शिकार से मांस और धन—दोहरा लाभ होगा। बस भट से अपनी धोती खोलकर उन कबूतरों पर फेंक दी। धोती पड़ते ही कबूतर धोती को लिये-दिये ही आकाश में उड़ गये। आकाश में जाकर कबूतरों ने कहा कि—हम लोग वही पाँसे हैं, कबूतर नहीं हैं। तुम्हें छाने के लिए यहाँ आये थे। नल बड़े संकट में पड़े, क्योंकि अब तो वे नंगे हो गये। किसी तरह

अपने शरीर के गुप्तांगों को जंगली पत्तों से ढँककर दमयन्ती के पास लौट आये। इधर दमयन्ती मन ही मन नल की हालत पर दुखी होने लगी। दमयन्ती की दुर्दशा नल से न सही गई और उन्होंने उसे समझाया कि वह अपने नैहर चली जाय जंगलों में खतरनाक स्थानों में वह कहाँ तक भटकेंगी। पर पतिसेवा-परायणा दमयन्ती भला क्यों पति का साथ विपत्तियों में छोड़ती। हाँ दमयन्ती ने भी नल से प्रार्थना की कि वह भी ससुराल चले चलें, पर ऐसी हालत में नल ससुराल जाने पर राजी न हुए। करते क्या, वहाँ तो कलियुग का प्रभाव था वह अच्छा कार्य करने ही क्यों देता। नल दमयन्ती को नैहर भेजने और इन कष्टों से मुक्त करने की चिन्ता में रहने लगे। एक दिन थके माँदे दम्पति एक स्थान पर विश्राम कर रहे थे। नल को तो नींद न आई और दमयन्ती बेचारी नल की गोद में सो गई। नल ने सोचा कि यदि—हम दमयन्ती को अकेली छोड़कर चले जायँ तो अवश्य ही मजबूर होकर अपने नैहर चली जायगी। बस, ऐसा सोचकर नल ने दमयन्ती की ही आधी साड़ी फाड़कर लपेट ली और उसे वहीं छोड़कर चल दिये। जिस पतिव्रता दमयन्ती ने विपत्ति में अपने सुखों का त्याग करके पति का अनुसरण परछाई की भाँति किया था, उसी पतिसेवापरायणा दमयन्ती को आज राजा नल कलियुग के प्रभाव से मौत के मुँह में अकेली छोड़कर जा रहे हैं।

दमयन्ती की आँख खुली। नल को गायब पाकर वह नाना प्रकार से दिलाप करती हुई इधर-उधर दौड़ने लगी। पर कहीं नल का पता न चला। आधी धोती तन में लपेटे दमयन्ती आगे बढ़ी। आगे उसने देखा कि एक अजगर मुँह फैलाये उसी पर झपटा चला आ रहा है। अब तो दमयन्ती के प्राण सूख गये। वह आँखें मूँद कर खड़ी चिल्लाने लगी। ठीक इसी समय एक शिकारी उसकी चिल्लाहट सुनकर आ पहुँचा और अजगर को मारकर दमयन्ती का प्राण बचाया। प्राण तो उसने बचाया, पर दमयन्ती के बिखरे हुए अधनंगे सौन्दर्य को देखकर दुष्टात्मा शिकारी का मन डोल गया। दमयन्ती ने तुरन्त उसकी भावना पहचान भी ली। शिकारी दमयन्ती को अकेली पाकर बलात्कार करने के लिए आगे बढ़ा। दमयन्ती के क्रोध की सीमा न रही पर करती क्या। मन ही मन उसने कहा—हे देव ! यदि मैं सच्ची पतिव्रता

हूँ और मैंने पति के अतिरिक्त किसी पर पुरुष की ओर प्रेम से निगाह उठाकर नहीं देखा है तो यह दुष्ट अभी भस्म हो जाय ।’ परिणाम यह हुआ कि बात की बात में ही वह शिकारी वहीं भस्म हो गया । दमयन्ती के पातिव्रत और सतीत्व की दैव ने परीक्षा ले ली ।

इसके उपरान्त दमयन्ती भटकती हुई मुनियों के एक आश्रम पर पहुँची । ऋषियों को प्रणाम किया और अपनी विपत्ति कह सुनायी । ऋषियों ने उसे आश्वासन दिया—‘ध्वराओ नहीं बेंटी, तुम्हें तुम्हारे पतिदेव अवश्य मिलेंगे । धर्म हाथ से न जाने देना ।’ मुनियों का आशीर्वाद शिरोधार्य कर दमयन्ती आगे बढ़ी । उसे व्यापारियों का एक जत्था मिला । उनके साथ उसने एक नदी पार की और उन्हीं के साथ एक मैदान में रात को सोई । इधर जंगली हाथियों के समूह ने रात में उनमें से काफी आदमियों को कुचल डाला । तब तो व्यापारी लोग सोचने लगे कि ‘इसी कुलटा स्त्री के दुष्प्रभाव से ही हम पर यह विपत्ति आई है, इसलिए अब इसे शरण देना ठीक नहीं ।’ दमयन्ती वहाँ से भी भगाई गई ।

विपत्तियाँ अकेले नहीं आती । आग लगने पर उनचासों हवाएँ बहने लगती हैं । यही दशा दमयन्ती की थी । इन शारीरिक कष्टों की उसे कोई चिन्ता न थी । चिन्ता तो केवल उसे पति के वियोग की थी । यही पतिव्रता स्त्री के लिये स्वाभाविक था । स्वामी के वियोग में व्याकुल दमयन्ती तमाम कठिनाइयों को पार करती हुई चेदि देश के राजा सुबाहु के नगर में पहुँचती है । उसे पागल समझकर नगर के बच्चे कुतूहलवश उसके पीछे-पीछे लग जाते हैं । इस तरह वह राजमहल के निकट पहुँचती है और राजमाता की निगाह खोड़ी पर से उसपर पड़ जाती है । राजमाता को उसकी दयनीय दशा पर दया आ जाती है और उसे वे अपने महल में आराम से रख लेती हैं तथा उसे अपनी बेटी सुनन्दा की सखी बना देती है । दमयन्ती रहने को तैयार हो जाती है, पर एक शर्त रखती है कि ‘मैं न किसी का जूठा खाऊँगी, न किसी का पैर धोऊँगी और न किसी मर्द से बात करूँगी ।’ राजमाता उनकी शर्त स्वीकार करती हैं और अब से दमयन्ती उस महल में रहने लगती है ।

इधर दमयन्ती को छोड़कर नल घने जंगल में आगे बढ़ते हैं । वे देखते हैं

कि वन दावानल से धधक कर जल रहा है और 'बचाओ, नल बचाओ' की पुकार सुनाई पड़ रही है। नल आवाज सुनकर आग्नि में कूद पड़ते हैं और तब देखते हैं की कुण्डल के आकार का एक साँप एक स्थान पर पड़ा है। वह गेंडुली बना है पर चल-फिर नहीं पा रहा है। नल को देखकर साँप काँपता हुआ बोला 'मैं प्रधान नागों में से एक हूँ। मेरा नाम कर्कोटक है। नारद के शापवश मैं यहाँ जड़ रूप में पड़ा हूँ और नल के हाथों मेरा उद्धार बताया गया है। मैं अपना शरीर अभी छोटा किये लेता हूँ और आप मुझे यहाँ से हटा दीजिये।' इतना कहते ही साँप अँगूठे के बराबर हो गया। नल ने निर्भय होकर उसे उठा लिया और ऐसे स्थान पर रखना चाहा, जहाँ आग न थी। तब साँप ने कहा कि मुझे रखिये न और चलते चलिये तथा अपने पग गिनते रहिये। नल साँप को लेकर पग गिनते हुए आगे बढ़े। जैसे ही नल नौ के बाद दसवाँ पैर रखा और मुँह से 'दश' शब्द कहा, वैसे ही नाग ने नल को डँस लिया, क्योंकि संस्कृत में 'दश' का अर्थ 'काटो' भी होता है। साँप के काटते ही नल का रूप बिल्कुल काला पड़ गया। सारे शरीर में विष व्याप्त हो गया। आकृति ऐसी बदल गई कि उन्हें कोई भी नल नहीं कह सकता था। इधर नागराज शाप से मुक्त हो गया उसने अपना पूर्व रूप धारण कर लिया। वह कहने लगा, 'महाराज, मैंने आपका हित किया है। आपके शरीर में कलियुग का निवास है, मेरे विष से वह धुलता रहेगा और अन्त में छोड़कर भाग जायगा। इससे आपको कोई कष्ट नहीं होगा। और मैं आपको दो कपड़े देता हूँ। जब आप अपने पहले रूप को प्राप्त करना चाहें, मेरा स्मरण करके इन कपड़ों को पहन लीजिएगा। शीघ्र ही आप अपने पूर्वरूप को प्राप्त कर लेंगे। आप इसी समय जाइये और अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण के यहाँ नौकरी कर लीजिये।' इसके बाद नागराज अन्तर्धान हो गये और नल अयोध्या की ओर रवाना हुए।

अयोध्या में पहुँचकर नल ने अपना नाम बदलकर बाहुक रख लिया। बाहुक ने राजा से शरण देने की प्रार्थना की—'राजन्, मैं अश्व-विद्या और रसोई बनाने का कार्य बहुत उत्तम ढंग से जानता हूँ, इसलिए आप मेरा पालन करने की कृपा कीजिये।' ऋतुपर्ण राजा ने कहा 'ठीक है, आज से मैं

तुम्हें अपनी अश्वशाला का प्रधान बनाता हूँ और वाष्ण्य तथा जीवक को आपके अधीन करता हूँ। आपका वेतन दस हजार स्वर्णमुद्रा प्रति माह होगा।' इस प्रकार नल राजा ऋतुपर्ण के यहाँ रहने लगे।

इधर जब दमयन्ती के पिता भीम को नल के हारने और दमयन्ती के साथ वन चले जाने का समाचार मिला तो उन्होंने चारों ओर दूत भेज दिये और वे दूत नल और दमयन्ती का पता लगाने लगे। इसी प्रकार एक दिन सुदेव नाम का ब्राह्मण दूत चेदि राज्य में पहुँचा और पता लगाते-लगाते उसने दमयन्ती को बाहुक के राजमहल में देख लिया। फिर एकान्त में वह दमयन्ती से मिला और दमयन्ती ने उसे अपना पूरा वृत्तान्त सुनाया। सुनन्दा ने यह समाचार रानी को दिया। जब रानी को पता चला कि वह भीम की पुत्री दमयन्ती है तो वह दंग रह गई और भट उसने दमयन्ती को गले लगाया और कहा कि 'बेटी तुम तो हमारी बहिन की बेटी हो।' खैर, दमयन्ती को उसने साज-सम्मान के साथ भीम के यहाँ भेज दिया।

दमयन्ती अपने पिता के यहाँ अपने राजकुमार और राजकुमारियों के साथ रहने लगी। पर दमयन्ती अभी तक वही आधी धोती पहनती थी तथा तपस्विनी के वेष में रहती थी। उसके दिल में रात-दिन पति की ही चिन्ता लगी रहती थी। दमयन्ती अपनी माँ से बार-बार नल को खोजवाने की प्रार्थना किया करती। नल की भी खोज राजा की ओर से बराबर जारी ही थी। एक दिन पर्णाद नाम का एक ब्राह्मण-दूत अयोध्या पहुँचा और बाहुक से उसकी भेंट तथा बातचीत हुई। पर्णाद उसकी बातें गाँठ बाँधकर दमयन्ती के पास गया और कहने लगा 'ऋतुपर्ण के राज्य में बाहुक नाम का एक सारथि है। उससे मेरी बातचीत हुई तो उसने कहा कि 'उच्च घराने की पतिव्रता स्त्रियों को आपत्ति में भी धर्म-विरुद्ध न होना चाहिए। आपत्ति में यदि नल ने दमयन्ती को छोड़ भी दिया तो दमयन्ती को क्रोध करना उचित नहीं.....' इत्यादि।' पर्णाद की बात सुनकर दमयन्ती को कुछ सन्देह-सा हुआ और उस बाहुक के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त करने का कार्य उसने पुनः योग्य ब्राह्मण दूत सुदेव को सौंपा।

दमयन्ती ने अपनी माता से परामर्श किया और माता की अनुमति पाकर

उसने सुदेव को बुलाकर कहा—‘ब्राह्मणदेव, आप अयोध्या जाकर ऋतुपर्ण को खबर दीजिये कि राजा भीम की कन्या दमयन्ती का कल स्वयम्बर होगा। सुयोदय होते ही कन्या पति का वरण करेगी आपको भी सादर निमन्त्रण भेजा है।’ सुदेव अयोध्या पहुँचे और दमयन्ती का सन्देशा राजा ऋतुपर्ण को कह सुनाया।

राजा ऋतुपर्ण ने बाहुक को बुलाया और दमयन्ती के स्वयम्बर का वृत्तान्त कहा। इस बात पर विशेष जोर दिया कि रातभर के अन्दर ही विदर्भ देश पहुँच भी जाना है। बाहुक का तो दमयन्ती के दूसरे स्वयम्बर का समाचार सुनते ही प्राण सूख गया। वह सोचने लगा—क्या दमयन्ती सचमुच अपना दूसरा व्याह करना चाहती है? दमयन्ती जैसी सती-साध्वी पतिव्रता नारी के लिए तो ऐसी बात सम्भव नहीं जान पड़ती। या नल का (मेरा) पता लगाने की यह चाल मात्र है। दमयन्ती को मेरे दीर्य से दो बच्चे भी प्राप्त हो चुके हैं, इसलिए उसके दूसरे विवाह की बात तो विश्वास में नहीं आती। खैर, जो होगा, वहाँ पर चलने से स्पष्ट ही हो जायगा। यह सोच-विचारकर बाहुक राजा को विदर्भ पहुँचाने पर राजी हो गया। बाहुक ने राजा से कहा ‘आप तैयार हो जायँ, मैं एक ही दिन में आपको विदर्भ पहुँचा दूँगा।’ सभी तैयारियाँ शीघ्र सम्पन्न हो गईं।

बाहुक अश्व-विद्या में अद्वितीय थे ही। वायुवेग से रथ हाँकने लगे। रथ पर राजा का पुराना सारथि वाष्णीय भी था। राजा को रथ की गति पर आश्चर्य होने लगा। पचासों मील की गति से रथ उड़ने लगा। रास्ते में राजा ने कहा—‘बाहुक, वह देखो वह एक पेड़ है। उसमें जितने फल और पत्ते हैं, मैं क्षण भर में गिन देता हूँ। मैं गणना और पाँसे की विद्या का अद्वितीय जानकार हूँ। इस वृक्ष में पाँच करोड़ पत्ते और दो हजार पंचानवे फल हैं। एक सौ एक पत्ते और एक सौ एक फल भूमि पर गिर पड़े हैं। चाहे गिनकर देख लो। बाहुक ने तुरन्त रथ खड़ा करके पेड़ को काट गिराया और गिन डाला। राजा ने जो गणना बतायी थी वह बिलकुल सही-सही निकली। अब तो बाहुक को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने राजा से प्रार्थना की—‘हे राजन्! आप मुझे गिनने की विद्या और पाँसे की विद्या सिखा दें और मैं

आपको अश्व-विद्या सिखा दूँगा ।' राजा अश्व-विद्या का नाम सुनते ही अति प्रसन्न हुए और वहीं पर राजा ने बाहुक को गणन तथा अक्ष-विद्या सिखा दी । अक्ष-विद्या (पाँसा विद्या) के सीखते ही इधर कलियुग ने नल का शरीर छोड़कर नल के सामने प्रकट हो आया । नल को अब तक कलियुग ने ही परेशान कर रखा था । उसी के प्रभाव से नल की यह दशा हुई थी । उन्हें उस पर क्रोध आ गया और तुरन्त उसे मारने दौड़े । कलि हाथ जोड़कर कहने लगा—'यदि आप मुझे मारें न अथवा शाप न दें तो मैं आपको यह वरदान दूँगा कि संसार में जो कोई आपका नाम लेगा, उसे मेरा भय न रहेगा ।' नल ने उसे छोड़ दिया और राजा को लेकर विदर्भ पहुँचे ।

विदर्भ में जब ऋतुपर्ण का रथ पहुँचा तो उनके रथ के पहिये की धुर-धुराहट को सुनकर नल के पुराने घोड़े जो विदर्भ के अस्तबल में थे, हिनहिनाते लगे, जैसे उन्हें नल की आहट का पता-सा चल गया हो । ऋतुपर्ण के रथ के पहियों की धुरधुराहट को सुनकर दमयन्ती को भी अचरज होने लगा । वे सोचने लगीं कि ऐसी आवाज नल के अतिरिक्त और किसी के हाँकने की नहीं हो सकती थी । दमयन्ती का दिल आन्दोलित हो उठा । वह सोचने लगी कि आज जैसी प्रसन्नता मुझे है; उससे जान पड़ता है, मुझसे मेरे प्राणनाथ अवश्य मिलेंगे । और यदि आज उनसे मेरी भेंट न हुई तो असम्भव ही है । इसलिए अब मैं भेंट न होने पर प्राण त्याग दूँगी । इसी प्रकार रोती हुई दमयन्ती महल की छत पर चली गई और देखा कि वाष्ण्य रथ के घोड़े खोल रहा है और राजा ऋतुपर्ण ब्योढ़ी में प्रवेश कर रहे हैं ।

राजा भीम को तो पहले से कुछ मालूम न था, क्योंकि स्वयम्बर का संदेश तो दमयन्ती ने माता की अनुमति से भेजवाया था । उन्होंने आदर-सत्कार करके ऋतुपर्ण से आने का कारण पूछा । ऋतुपर्ण तुरन्त ताड़ गये कि यहाँ पर न स्वयम्बर की कोई तैयारी है और न राजा को इसका कुछ पता ही है तो जरूर इसमें कोई रहस्य है । खैर, ऋतुपर्ण ने बात बना ली और कहा कि केवल मिलने चले आये हैं । राजा भीम ने ऋतुपर्ण को यथोचित महल में टिकाया और सब प्रकार का आराम दिया ।

इधर दमयन्ती ने हर प्रकार से नल की जाँच-पड़ताल प्रारम्भ कर दी ।

उसने बाहुक के पीछे जासूस लगा दिये । उसने अपनी दासी केशिनी को बाहुक के पास उसका परिचय पूछने के लिए भेजा । केशिनी बाहुक के पास गई और बाहुक तथा वाष्ण्य का परिचय पूछा । बाहुक ने बताया कि वह स्वयं तो बाहुक नाम का सारथि है और वाष्ण्य नल का सारथि था और इस समय ऋतुपर्ण के यहाँ नौकर था । केशिनी के पर्णाद ब्राह्मण और बाहुक के बीच की अयोध्या में हुई बात का भी प्रसंग चलाया । बाहुक ने फिर वही बात कही जो उसने पर्णाद से कही थी । केशिनी उससे बात करके दमयन्ती के पास चली आई और पूरा वृत्तान्त कह सुनाया । दमयन्ती का अनुमान सही निकलने लगा और अब उसका दिल और भी बेचैन होने लगा, पर अभी कार्य पक्का न हो सका । उसने आशा देखकर छान-बीन करना जारी रखा और पुनः केशिनी से कहा—‘तुम फिर बाहुक के पास जाओ और गौर से उनके कार्यों और चेष्टाओं की जाँच करो, पर उनसे कुछ कहो मत । जब कभी बाहुक पानी माँगे अथवा आग माँगे तो देना मत । और जब कभी देना भी तो काफी देर करके । इस प्रकार जो कुछ उनका व्यवहार देखना आकर मुझे बताना । केशिनी फिर बाहुक के पास गई और उनके कार्यों को देखने लगी । इसके बाद केशिनी दमयन्ती के पास आयी और चकित होकर कहने लगी ‘राजकुमारी जी, मैंने तो ऐसा आदमी न देखा था और न सुना ही था । आग और पानी तो सब उनकी आज्ञा मानते हैं । खाली घड़े अपने-आप उन्हें देखकर भर गये और उसी पानी से अपना भोजन उन्होंने तैयार कर लिया । आग तो थोड़ा-सा फूस रखते ही अपने-आप जल उठी और उसीसे उनका भोजन तैयार हो गया । किसी भी दरवाजे में घुसते समय वे न झुकते और न सिकुड़ते, बल्कि दरवाजे अपने-आप बंद जाते थे । मैंने यह भी देखा कि बहुत से फूलों को वे हाथ में लेते और मल डालते, फिर भी वे न मुरझाते और न कुरूप होते ।’ केशिनी के मुँह से ऐसी बातें सुनकर दमयन्ती को पूर्ण विश्वास हो गया कि अवश्य ही वह बाहुक हमारे पतिदेव ही हैं, क्योंकि अग्निदेव और वरुणदेव आदि का उन्हें वरदान पहले ही मिल चुका था । लेकिन सन्देह को बिलकुल ही दूर कर देने के लिए उसने और भी युक्तियों का उपाय किया । दमयन्ती का हृदय प्रेम से दग्ध होने लगा ।

काबू में न रह गया। रोती-रोती फिर उसने केशिनी को बाहुक का पकाया मांस लाने को भेजा। केशिनी तुरन्त दौड़ी गई और लाकर मांस दमयन्ती को दिया। मांस को चखकर दमयन्ती ने निश्चय कर लिया कि वैसा स्वादिष्ट भोजन केवल नल ही बना सकते थे। उसने फिर केशिनी को बुलाया और अपने दोनों बच्चों को बाहुक के पास भेज दिया।

अपने खून और दिल के टुकड़े दोनों बच्चों का स्पर्श करते ही बाहुक की पुरानी स्मृतियों का बाँध टूट पड़ा। प्रेम से दिहल होकर बाहुक दोनों बच्चों को बार-बार चूमने लगे और आँखों से आँसुओं की अनवरत धारा बहने लगी। किन्तु भट्ट उन्हें अपनी वर्तमान स्थिति याद आ गयी। पुरानी बातों को छिपाने के लिए उन्होंने शीघ्रता से बच्चों को गोद से उतार दिया और आँसुओं को पोंछकर केशिनी से कहना प्रारम्भ किया कि—केशिनी, तुम इन बच्चों को लेकर यहाँ से चली जाओ। रात का समय है। हम पराये देश में हैं। तुम्हारा मेरे पास बार-बार आना ठीक नहीं। लोग नाना प्रकार के सन्देह करने लगेंगे। इन बच्चों की सुन्दरता को देखकर मेरा भी दिल मचल उठा और आँसू आ गये। कोई विशेष बात नहीं थी। तुम सन्देह न करना किसी बात का।’

केशिनी ने जाकर पूरा वृत्तान्त दमयन्ती से कह सुनाया। अब तो दमयन्ती को तनिक भी सन्देह न रहा और सोलह आने विश्वास हो गया कि वे नल ही थे। अब दमयन्ती को धीरज कहाँ? वह प्राणनाथ से मिलने को अधीर हो उठी। प्रेम का सागर उमड़ पड़ा। पुराना संसार फिर बसने जा रहा है, यह जानकर वह हृदय का प्रेम और प्रणयदाह से पागल हो उठी। उसने केशिनी द्वारा पूरा वृत्तान्त रानी साहिबा को कहलवाया और यह बता दिया कि वह बाहुक अवश्य ही नल है। उन्हें शीघ्र बुलाया जाय या दमयन्ती को उनसे मिलने की अनुमति मिले। रानी ने पूरा समाचार जाना और राजा से कहा सबकी अनुमति से बाहुक ज्योढ़ी में बुलाये गये दमयन्ती ने उनसे भेंट की।

दमयन्ती की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। वह कुछ बोल ही न पाती थी। वही दशा बाहुक की भी थी। अत्यधिक हर्ष और अत्यधिक

शोक—दोनों में ही आँसू स्वतन्त्र और प्रवाहयुक्त हो जाते हैं। आज दोनों के सुख के आँसू हैं। दमयन्ती ने अपनी सारी विपत्ति कह सुनायी। नल ने भी आदि से अन्त तक सारा वृत्तान्त कह सुनाया। दमयन्ती के दुबारा स्वयम्बर की बात से चारों ओर लोगों में दमयन्ती की निन्दा हो रही थी। नल ने उस ओर भी निर्देश किया, किन्तु उसी वक्त देवताओं की आकाश-वाणी हुई कि दमयन्ती के पतिव्रता धर्म पर कोई आँच नहीं आई है। दमयन्ती अग्नि के समान पवित्र है। इसके साक्षी देवतागण हैं। नल का सन्देह दूर हो गया और कर्कोटक नाग का दिया हुआ वस्त्र नल ने तुरन्त धारण कर लिया। अब क्या था, नल अपने पूर्ण रूप में आ गये। दोनों—पति और पत्नी ने गाढ़ आलिङ्गन किया। वर्षों की आग क्षण भर में बुझ ग।

राजा और रानी को समाचार मिला। घर में पुनः दिवाली मनायी गई। नल आदर से राजमहल में बुलाये गये। राजा और रानी ने आशीर्वाद दिया और उस रात दोनों पति-पत्नी एक साथ ही सोये और रात भर वर्षों की विपत्तियों पर बातें होती रहीं।

दूसरे दिन सुबह ऋतुपर्ण को भी समाचार मालूम हुआ। वे बहुत ही प्रसन्न हुए और साथ ही नल से बाहुक रूप में सेवा लेने से बहुत लज्जित भी हुए। राजा ऋतुपर्ण ने नल से उधार रखी हुई अश्व-विद्या सीखी और अत्यन्त सम्मानपूर्वक अपनी राजधानी अयोध्या पहुँचा दिये गये। इधर नल एक महीने तक अत्यन्त सुख और सम्मान से ससुराल में रहे। इसके बाद राजा भीम ने दमयन्ती और नल को उनके वच्चों सहित असीम धन सम्पत्ति और सेना सहित उनकी राजधानी भेज दिया। राजा नल अब द्यूतविद्या में अजेय थे। कलियुग का प्रभाव भी नष्ट हो चुका था। उन्होंने पुष्कर को पाँसे में बुरी तरह हराया। इस प्रकार अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त करके सुख-पूर्वक राज्य करने लगे। सच है। सच्चे धर्मात्मा और सत्कर्मी लोगों की इसी प्रकार अग्नि-परीक्षा होती है।

नचिकेतोपाख्यान

पूर्व समय में वाजश्रवस गौतमी नाम के एक ऋषि थे। नचिकेता उनकी का पुत्र था। एक समय की बात है कि वाजश्रवस विश्वजित् नाम का यज्ञ कर

रहे थे। विश्वजित् नाम का यज्ञ तभी सम्पन्न होता है, जब यज्ञकर्ता अपना सब कुछ दान कर दे। वाजश्रवस ने अपनी सभी बुड्दी गौओं का दान कर दिया और बहुत-सा धन भी दान में दे दिया, उस समय गोधन ही सर्वश्रेष्ठ धन माना जाता था। नचिकेता को पिता की यह बात अच्छी न लगी। वह सोचने लगा कि—पिताजी ने गौओं का दान करके अपना भार टाला है। भला जो गौएँ दूध नहीं देतीं, अथवा बुड्दी हो गई हैं, उनके दान का अर्थ ही क्या है? यह तो केवल ढोंग है। दान नहीं है।

ऐसा मन में विचारकर नचिकेता ने अपने पिता से कहा—‘पिताजी, सब कुछ तो आप दे चुके, अब मुझे आप किसको देंगे?’ पिताजी ने बच्चे की नादानी भरी बात का कुछ उत्तर नहीं दिया। नचिकेता ने दुबारा वही प्रश्न किया। पिताजी फिर नहीं बोले। तीसरी बार नचिकेता ने जब पुनः वही प्रश्न किया तो पिताजी ने खीझकर कहा—‘तुम्हें मौत को दूँगा।’

नचिकेता ने कभी यह न सोचा था कि पिताजी ऐसा उत्तर देंगे। जैसे व्यंग्य का प्रश्न था वैसे ही उसका उत्तर भी मिला। पर नचिकेता तो ठहरा एक आज्ञाकारी सपूत बालक। पिता की प्रत्येक आज्ञा को मानना और इच्छाओं को पूरा करना वह अपना धर्म समझता था। फिर भी वह विचार में पड़ गया कि यदि पिता के वचनों को सत्य करता है तो मृत्यु का सामना करना पड़ता है और यदि मृत्यु से डरता है तो पिता की आज्ञा भंग होती है। भले ही आज्ञा बेमन की रही हो। अन्त में उसने यही निश्चय किया कि पिता की आज्ञा ही मानना उचित है।

अब नचिकेता यमराज अर्थात् मृत्यु के द्वार की ओर चल पड़ा। यमराज के दरबार में वह सकुशल पहुँच गया। संयोग से यमराज घर पर न थे, कहीं बाहर गये हुए थे। नचिकेता तीन दिन तक नियम संयम और उपवास-व्रत के साथ यमराज का इन्तजार करता रहा। नचिकेता बड़ा चतुर बालक था। तीसरे दिन जब यमराज घर आये, तो यम ने बालक से पूछा, ‘तू कौन है?’ पूछने के पहले ही यमराज को अतिथि-सत्कार का उपदेश देते हुए वह बोल उठा ‘यमराज, पानी लाइये। मैं प्यासा हूँ, तीन दिनसे कुछ नहीं मिला। जिसके दरवाजे पर अतिथि भूखा-प्यासा पड़ा रहे, उसे बड़ा पाप लगता है।’ भारत

में अतिथि-सेवा सर्वोत्तम धर्म माना गया है। यमराज ऐसे धर्मात्मा और न्यायी भला कैसे उस धर्म से विचलित होते ! नचिकेता के तीन दिन के कष्टों को सुनकर यमराज बड़े लज्जित हुए और बोले 'हे अतिथि देव ! क्षमा कीजिये। आप तीन दिन से मेरे दरवाजे पर पड़े हैं भूखे-प्यासे, इसलिए मैं आपको तीन वरदान देता हूँ, माँग लीजिये। अब मेरा कल्याण कीजिये।'

यमराज से वरदान की बात सुनकर नचिकेता बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला "महाराज, मेरे पिता की सारी वासनाएँ शान्त हों, हृदय विशुद्ध और बुद्धि निर्मल हो। आपके यहाँ से जाने पर वे मेरा शुद्ध हृदय से स्वागत करें।" यमराज ने बिना कुछ सोचि-समझे 'तथास्तु' कह दिया। तनिक नचिकेता की बुद्धिमानी तो देखिये। एक ही पत्थर से दो शिकार मारे थे। एक ही वरदान में तीन चीजें माँग लीं। बड़ी चालाकी तो उसकी यह रही कि उसने यह माँग लिया कि 'यहाँ से जाने पर पिताजी मेरा स्वागत करें।' वह जानता था कि यमराज के यहाँ आकर कोई लौट नहीं सकता था। वहाँ से लौटने का अर्थ ही यह था कि यमराज से अर्थात् मृत्यु से मुक्त होना। इसे कहते हैं सजगता।

बुद्धिमान नचिकेता ने दूसरा वर माँगा कि "जिस विद्या से स्वर्ग मिलता है, वह अग्निविद्या मुझे दीजिये। जिस लोक में भय नहीं, मृत्यु नहीं, जहाँ आनन्द ही आनन्द है और क्रमशः अमरत्व अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है, वह स्वर्ग प्राप्त करने की मेरी इच्छा पूर्ण हो।" यमराज ने यह भी प्रार्थना मान ली। और प्रेम से अग्निविद्या नचिकेता को सिखायी। साथ ही प्रसन्न होकर अपनी ओर से भी एक वर दिया कि 'यह अग्नि संसार में नचिकेतानि नाम से प्रसिद्ध होगी।' इस प्रकार नचिकेता को ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया और वह अमर भी हो गया।

अब रहा तीसरा वरदान। तो तीसरे वरदान में उसने माँगा कि "यमराज ! आप ज्ञानी हैं, इसलिए बताइये कि यह आत्मा क्या चीज है जिसके बारे में तमाम तर्क-वितर्क होते हैं।" इस महत्वपूर्ण और आध्यात्मिक प्रश्न को सुनकर तो यमराज दंग रह गये। उन्होंने नचिकेता को लाख प्रयत्न करके प्रलोभन दिया कि वह दूसरा वर माँग ले, पर आत्मा के बारे में

न माँगे, पर भला नचिकेता कहाँ का चूकनेवाला था। वह प्रश्न पर डटा रहा। अन्त में यमराज को कहना ही पड़ा—“यह आत्मा न जन्म लेता है, न मरता है, न देह के साथ नष्ट होता है। आत्मा राई से भी छोटा और पहाड़ों से भी बड़ा है। यह आत्मा उसी परमात्मा का एक रूप है। इसका दर्शन तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि मन काबू में नहीं है। दुनिया में परमात्मा को प्राप्त करना ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है।.....”

इस प्रकार कुमार नचिकेता ने मृत्यु पर विजय भी प्राप्त कर ली और ब्रह्मज्ञान भी। नचिकेता ने जो कुछ यमराज से प्राप्त किया, वही आगे चलकर पातंजलि का योगदर्शन बन गया। यह है मन की पवित्रता। यदि नचिकेता का मन शुद्ध और पवित्र न होता तो वह यमराज के यहाँ तक पहुँचता ही कैसे।

नहुष

नहुष आयु के पुत्र थे। नहुष बड़े धर्मात्मा और प्रतापी राजा हुए। उनके प्रताप से उन्हें स्वर्गधाम मिला। देवताओं ने उन्हें इन्द्र का पद दिया, पर अपनी मदांधता के कारण वहाँ से उनका पतन भी हुआ और अजगर बनकर रहना पड़ा। नहुष की कथा पुराणों में इस प्रकार आई है।

एक बार वृत्रासुर को मारने के बाद इन्द्र को ब्रह्महत्या का दोष लगा। वृत्रासुर ब्राह्मण का पुत्र था और इन्द्र को मारने के लिए उसके पिता ने उसे पैदा किया था। इसके पहले भी इन्द्र ने ब्राह्मण का वध किया था। वृत्रासुर के वध के बाद इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी। ब्रह्महत्या ने इन्द्र को श्रीहीन कर दिया। हत्या महापाप है ही। इन्द्र बेचारे घबराकर तेजहीन होकर मुँह छिपाकर कन्दराओं में चले गये। परिणाम यह हुआ कि इन्द्रपद खाली हो गया।

इन्द्र की यह परम्परा है कि जो भी राजा सौ अश्वमेध यज्ञ विधिवत् पूर्ण कर ले तथा तपोबल से पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर ले, वही इन्द्र बना दिया जाता था। यही कारण है कि इन्द्र घूम-घूमकर लोगों की तपस्या और यज्ञों में विघ्न डाला करते थे। जब इन्द्रपद खाली हुआ तो देवता और ऋषियों ने नहुष

को सब प्रकार से उपयुक्त समझकर इन्द्रपद पर आसीन किया। इन्द्रपद पाकर नहुष अब दूसरे इन्द्र हो गये और स्वर्गधाम अमरावती के सुखों तथा अप्सराओं का भोग और विहार करने लगे। राजमद एक ऐसा मद है, जो मनुष्य को पागल बना देता है। वही राजमद इस समय नहुष के मस्तक पर था। नहुष की प्रवृत्ति राजकीय सुखों की ओर घूम पड़ी और वे मद से अन्ध हो गये।

एक दिन उन्होंने इन्द्राणी शची को देखा तो उनका चित्त डोल गया। उन्होंने सोचा कि जब इन्द्र का पूरा राज्य मेरा ही है, सभी वस्तुएँ मेरी हैं, सब को भोगने का मुझे अधिकार है तो इन्द्राणी भी मेरी हो सकती हैं। अब वे इन्द्राणी का भोग करने की धुन में पड़ गये। आदेश हो गया कि इन्द्राणी इन्द्र नहुष के पास जायँ। इन्द्राणी शची पतिव्रता थीं। वे ऐसा कदापि न चाहती थीं। पर कोई उपाय न देखकर वे सीधे देवताओं के गुरु बृहस्पति के पास पहुँचीं। बृहस्पति से अपनी रक्षा की भीख माँगी। बृहस्पति ने उन्हें अभयदान दे दिया।

इधर राजा नहुष इन्द्राणी के बिना व्याकुल थे। उन्होंने इन्द्राणी की अवज्ञा देखकर कोप किया। और जबरदस्ती इन्द्राणी को लाने का आदेश दिया। इस प्रकार अनर्थ देखकर सभी ऋषि मिलकर बृहस्पति के पास समस्या सुलझाने के लिए पहुँचे। वहाँ यह निश्चय हुआ कि इन्द्राणी ऋषियों के साथ नहुष के पास जाकर कुछ मुहलत माँगें। बात ठीक हो गई। किसी तरह इन्द्राणी का धर्म बचा। जब नहुष इन्द्राणी का भोग न कर सके तो बहुत दुःख हुआ।

इधर इन्द्र नहुष का मद और गर्व बढ़ता ही गया। उन्होंने आदेश दिया कि सभी ब्राह्मण ऋषि मेरी पालकी ढोयें। राजा की आज्ञा माननी पड़ती थी। सभी ऋषि कहार बनकर नहुष की पालकी ढोने लगे। इतना बड़ा दुष्कर्म। क्षत्रिय होकर ब्राह्मण और ऋषियों से पालकी ढुलवाना कितना बड़ा अनाचार था! इतना ही नहीं; जो वृद्ध ऋषि जरा भी कम ठोकर खा जाते अथवा भिन्नक जाते तो नहुष उन्हें लातों से मारने लाते अत्याचार असह्य हो गया। ऐसे ही एक दिन सभी ऋषि पालकी ढो रहे थे

ब्रह्मर्षि अगस्त्य को जरा-सी ठोकर लगा गई। इस पर नित्य की भांति नहुष ने लात मारी। ब्रह्मर्षि अगस्त्य क्रोध को न सँभाल सके और शाप दे दिया कि 'तूने नीच जड़ बुद्धि का काम किया है। तू जा मृत्यु लोक में अजगर हो जा। तेरे ही वंश के पाण्डव लोग तेरे पास पहुँचेंगे। उन्हींके द्वारा तेरा उद्धार होगा।' शाप पड़ते ही नहुष मृत्युलोक में आ गिरे और अजगर हो गये।

जब पाण्डवों को वनवास हुआ था तो वेचारे जंगलों में घूमने लगे। भीमसेन घूमते-घूमते संयोग से उसी अजगर के पास आ गये। भीमसेन को दूँढ़ते युधिष्ठिर भी वहाँ आ पहुँचे। भीमसेन को नागपाश में बँधा देख युधिष्ठिर ने नाग से उसका परिचय और भीमसेन के मुक्त होने का उपाय पूछा। अजगर ने अपना पूरा इतिहास कह सुनाया और कहा कि जो मेरे प्रश्नों का उत्तर दे दे, उसी से मेरी मुक्ति हो जायगी और उसी से मेरा शिकार भी मुक्त हो जायगा। युधिष्ठिर ने अजगर के प्रश्नों का उत्तर दिया और इस प्रकार अजगर शापमुक्त हुआ। पुनः उसने नहुष का शरीर पाया। भीम भी बच गये तथा नहुष शाप से मुक्त होकर पुनः स्वर्ग को गये। सच है, ब्राह्मण का शाप मृषा नहीं हो सकता और अत्याचार भी अदण्डित नहीं रह सकता।

परीक्षित

महाराजा परीक्षित अभिमन्यु की स्त्री उत्तरा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। जब वे गर्भ में थे, तभी से आततायियों की निगाह उनपर थी। अश्वत्थामा पाण्डवों के वंश को निर्बीज करना चाहता था। द्रौपदी के सभी पुत्रों को उसने मार डाला। अब पाण्डव-वंश में कोई न बचा, जो वंश को आगे चला सकता। केवल उत्तरा के गर्भ में यही परीक्षित बचे थे। उनके लिए भी अश्वत्थामा ने अपना ब्रह्मास्त्र छोड़ा। उत्तरा ने आतुर और आर्त होकर कृष्ण भगवान की शरण ली। कृष्ण भगवान ने अपने संरक्षक कदच द्वारा गर्भ में स्थित परीक्षित की रक्षा की। इस प्रकार परीक्षित के प्राण बचे और समय आने पर उन्होंने जन्म लिया।

परीक्षित परम विज्ञानी, तपस्वी, दानी, न्यायी, क्षमाशील, शरणागतरक्षक, उदार और योग्य राजा थे। उन्होंने अन्यान्य राजा और पूजा द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर रखा था। उन्होंने अपने पराक्रम से दिग्विजय की और चाहा कि उनके राज्य में अन्याय, चोरी, हिंसा और पाप किसी भी स्थान पर न हो।

इन दुष्कर्मों को दूर करने में वे सदा तत्पर रहते थे। एक दिन वे बाहर शिकार के लिए गये थे तो आश्रम के निकट ही उन्होंने एक विचित्र घटना देखी। एक राजवेषधारी शूद्र एक गाय और बैल की जोड़ी को डण्डे से पीटता हुआ खदेड़ रहा है। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे पास पहुँचे तो पता चला कि बैल धर्म और गाय पृथ्वी हैं और शूद्र वेषधारी राजा कलियुग है। बैल के तीन पैर टूट गये हैं और तीन चौथाई धर्म कलि के प्रभाव से नष्ट हो चुका है। अब तो राजा ने कलियुग का दध करने के लिए तलवार खींच ली। कलि समझ गया और शीघ्र ही राजा के चरणों पर गिर पड़ा। शरणागत जानकर राजा ने उसे छोड़ दिया और उसे रहने के लिए कुछ स्थान देने का निश्चय किया। कलि के माँगने पर राजा ने कलि को चार स्थान—जुआ-स्थान, शराब का स्थान, स्त्री-संग और हिंसा दे दिये। कलि ने एक स्थान 'सोना (स्वर्ण)' और माँगा। राजा ने उसे भी दे दिया, ताकि सारा राज्य कलि के प्रभाव से दूषित न हो जाय। इस प्रकार कलि के पाँच स्थान हुए—भूठ, मद, काम, वैर, रजोगुण। स्वर्ण का स्थान पाते ही चालाक कलि राजा के मुकुट में जटित सोने में ही बैठ गया। जब तक मुकुट राजा के सिर पर रहता, तब तक कलि का प्रभाव उनके मस्तिष्क पर अवश्य रहता।

इसके पश्चात् राजा शिकार खेलते आगे बढ़े और एक मृग का पीछा करते शमीक ऋषि के आश्रम पर पहुँचे। राजा बहुत प्यासे थे। ऋषि ध्यानमग्न समाधि लगाये बैठे थे। राजा ने पानी माँगा; किन्तु ऋषि इसे कब सुनते? राजा को क्रोध आ गया कि हमारे ही राज्य में रहकर यह हमारी आज्ञा का पालन नहीं कर रहा है, अवश्य ही यह कोई अभिमानी ऋषि है। राजा के दिमाग पर तो कलि का प्रभाव था, जो मुकुट में बैठा था। अतः राजा का व्यवहार अमानुषिक होना स्वाभाविक ही था। राजा ने पास ही पड़े हुए एक

मृतक साँप को ऋषि के गले में लपेट दिया और राजधानी वापस चले आये ।

इधर यह समाचार शमीक ऋषि के पुत्र शृङ्गी ऋषि को मिला । उन्होंने हाथ में जल लेकर बिना कुछ सोचे-समझे शाप दिया कि 'आज के सातवें दिन जिसने पिताजी के गले में साँप लपेटा है, उसे उसी जाति का तत्क्षक सर्प डँस लेगा और उसीसे उसकी मृत्यु होगी ।' शाप निष्फल नहीं हो सकता था । शाप का समाचार जब शमीक ऋषि को मिला तो वे बहुत पछताये, पर कोई उपाय न था ।

इधर जब राजा परीक्षित अपने महल में आये और मुकुट उतारा तो शीघ्र ही उनका मन पवित्र हो गया, क्योंकि कलि का प्रभाव तो मुकुट से ही था । उन्हें अपनी भूल महसूस होने लगी । मन्त्रियों द्वारा उन्हें भी शाप का पता चल गया और अपनी मृत्यु को निश्चित जानकर उन्होंने पूजा, पाठ, यज्ञ, हवन, ईश्वर-भजन आदि का आयोजन प्रारम्भ कर दिया । ठीक इसी समय परम भागवत शास्त्रवेत्ता श्री शुकदेवजी का आगमन हुआ । उचित अवसर जानकर राजा ने श्री शुकदेवजी से भागवत सुनाने की विनती की । इस प्रकार सात दिन के अनुष्ठान में श्री शुकदेवजी ने नियम धर्मपूर्वक परीक्षित को गंगाजी के किनारे श्रीमद्भागवत की कथा सुनायी ।

कोई भी हो, मनुष्य अपनी मौत से डरता है । परीक्षित ने अपने मन्त्रियों के परामर्श से खम्भे पर ऐसा महल बनवाया कि साँप वहाँ तक जा ही न सके । और उस महल में साँप के विष को दूर करनेवाले अन्यान्य ब्राह्मण, वैद्य और मंत्रवेत्ता भी नियुक्त किये गये । इधर तत्क्षक ने भी अपनी चाल प्रारम्भ कर दी । उसने अपने साँपों को भी परीक्षित के यहाँ ब्राह्मण के रूप में नियुक्त कर रखा था ।

सातवें दिन तत्क्षक राजा को डँसने चला । मार्ग में देखा कि कश्यप नाम के एक ब्राह्मण जा रहे हैं । उसने उनसे पूछा तो कश्यप ने कहा 'मैं परीक्षित को जिलाने जा रहा हूँ ।' तत्क्षक ने कहा, 'क्या आप तत्क्षक सर्प के विष को दूर कर सकेंगे ।' कश्यप ने कहा 'अवश्य' । तत्क्षक भी ब्राह्मण के ही वेश में था । उसने कहा 'मैं ही तत्क्षक हूँ और इस वरगद के वृद्ध को काटता हूँ और अभी यह भस्म हो जायगा । आप इसे पुनः हरा कर दें तो हम जानें कि आप परीक्षित को जिला सकेंगे ।' तत्क्षक के काटते ही वृद्ध भस्म हो गया और कश्यप ने राख

बटोरकर उसे मंत्र द्वारा फिर हरा-भरा कर दिया। इस प्रकार तत्त्वक को बड़ी चिन्ता हुई। किसी प्रकार उसने मुँहमाँगा धन देकर कश्यप को वापस किया और स्वयं परीक्षित के महल की ओर चला।

वहाँ पहुँचकर अपने ब्राह्मण वेशधारी साँपों की सहायता से राजा के पास जानेवाले फल-फूलों में कीट का रूप धरकर बैठ गया। राजा ने देखा कि सातवाँ दिन समाप्त हो रहा है और अब तक तत्त्वक नहीं आया और अब मृत्यु की घड़ी टल गई। अब व्रत के उपरान्त फलाहार करना चाहिए। जैसे ही राजा ने फल उठाया, वैसे ही कीट ने सर्प का रूप धारण कर राजा को डँस लिया। राजा परमधाम को गये और मंत्रियों ने राजा के पुत्र जनमेजय को राजगद्दी पर बिठाया।

ब्राह्मण का शाप कभी अन्यथा नहीं हो सकता, कोई भी उपाय किया जाय।

परशुराम

परशुराम महर्षि जमदग्नि के पुत्र थे। इनके जन्म के बारे में महाभागवत में ऐसा प्रसङ्ग आया है। महर्षि ऋचीक की पत्नी गाधि की कन्या सत्यवती थीं। एक बार सत्यवती तथा उसकी माँ ने ऋचीक से पुत्र उत्पन्न करने की प्रार्थना की। ऋचीक ने दोनों के लिए अलग-अलग चरु पकाया और स्नान करने चले गये। सत्यवती की माँ ने सोचा कि ऋचीक ने सत्यवती के लिए सुन्दर चरु पकाया होगा, उससे माँग लिया। इस प्रकार माँ ने सत्यवती का और सत्यवती ने माँ का चरु खाया। लौटने पर ऋचीक को यह बात मालूम हुई। उन्होंने सत्यवती से कहा 'तुमने बड़ा अनर्थ किया। अब तुम्हारे गर्भ से तो उग्र और घोर प्रकृति का पुत्र होगा।' सत्यवती बड़ी दुखी हुई। उसने प्रार्थना की कि 'भगवन् ! ऐसा नहीं होना चाहिए।' तब ऋचीक ने कहा 'अच्छा तो पुत्र नहीं पौत्र उग्र और घोर प्रकृति का होगा।'

इस प्रकार सत्यवती के गर्भ से समय पर जमदग्नि पैदा हुए। जमदग्नि ने रेणुका से विवाह किया और रेणुका के गर्भ से परशुराम पैदा हुए। कहा जाता है कि अनाचारी हैहयवंश के क्षत्रियों को नष्ट करने के लिए ही स्वयं

भगवान ने अंश रूप में परशुराम के नाम से जन्म लिया था। इस प्रकार परशुरामजी ने इक्कीस बार क्षत्रियों का पृथ्वी पर से नाश करके निर्वाज किया था। अन्त में कुछ क्षत्राणियों ने विद्वान् धर्मात्मा ब्राह्मणों से पुत्र उत्पन्न करने के लिए प्रार्थना की; बात उपयुक्त- जानकर ब्राह्मणों ने प्रार्थना स्वीकार करके उन क्षत्राणियों में उपयुक्त ऋतुकाल में धार्मिक रूप से पुत्रेच्छा से स्पर्श किया और उपयुक्त समय में हजारों क्षत्रियों ने पुनः जन्म लिया।

परशुराम ने क्षत्रियों का संहार क्यों किया ? उसकी कथा भागवत के नवम स्कन्ध में इस प्रकार है। हैहयवंश में एक राजा अर्जुन थे। उन्होंने दत्तात्रेय भगवान को प्रसन्न करके एक हजार भुजायें एवं अपार सम्पत्ति प्राप्त कर ली थी और उसके मद से अभिमानी हो गये थे। एक समय सहस्रबाहु अर्जुन ऋषि जमदग्नि के आश्रम पर पहुँचे। ऋषि के सत्कारों की उपेक्षा करते हुए बिना माँगे ऐश्वर्य देनेवाली कामधेनु को जबरदस्ती हँकवा ले गये। थोड़ी देर में जब परशुराम आश्रम पर आये और यह घटना सुनी तो क्रोध से लाल हो गये और फरसा तथा धनुष-बाण लेकर दूट पड़े और अर्जुन की सेना को अकेले ही काट डाला। और राजा को भी मार डाला। कुछ ही दिन पश्चात् राजा अर्जुन के लड़कों ने जमदग्नि को भी मार डाला और इस प्रकार पिता का बदला लिया। उसी समय परशुराम ने क्षत्रिय वंश को ही निर्वाज कर डालने की प्रतिज्ञा की और इक्कीस बार उनका नाश किया। परशुराम अत्यन्त पराक्रमी, तेजस्वी, बली और बाण-विद्या के सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता थे। द्रोणाचार्य को अन्यान्य अस्त्र-शस्त्र तथा कौशल परशुरामजी से मिला था, जिसे उन्होंने कौरवों-पाण्डवों को सिखाया था। इन्हीं परशुरामजी की धार्ता लक्ष्मणजी से भी हुई थी।

पाण्डव

पुरुवंश में एक प्रतापी राजा शान्तनु हो चुके हैं। उन्होंने सत्यवती से विवाह किया था। इसके पूर्व उनका विवाह गंगाजी से भी हो चुका था। और गंगा के गर्भ से शान्तनु के एक पुत्र भीष्म भी हुए थे, जो आजन्म ब्रह्मचारी थे। सत्यवती के गर्भ से शान्तनु को दो पुत्र चित्रांगद और विचित्र-

वीर्य पैदा हुए। चित्रांगद किसी लड़ाई में मारे गये, जिससे विचित्रवीर्य ही गद्दी पर बैठे। दुर्भाग्यवश विचित्रवीर्य के कोई सन्तान न हुई। उनकी दो स्त्रियाँ थीं—अम्बिका और अम्बाला। वंश को दृढ़ता जानकर सत्यवती को बड़ी चिन्ता हुई और तब उन्होंने भीष्म को बुलाकर नियोग द्वारा विचित्रवीर्य की स्त्रियों में पुत्र उत्पन्न करने को कहा। भीष्म ने इनकार कर दिया।

इसके पश्चात् सर्वसमर्थ वेदव्यासजी का स्मरण किया। व्यासजी प्रस्तुत हुए और माता सत्यवती ने कहा 'बेटा, तुम अपने स्वर्गवासी भाई विचित्रवीर्य की स्त्रियों से भरतवंश की रक्षा के लिए पुत्र उत्पन्न करो।' व्यास ने माता की आज्ञा मान ली। इधर सत्यवती ने अपनी पतोहू अम्बिका को भी समझा-बुझाकर तैयार किया। ऋतुस्नान के उपरान्त उपयुक्त समय पर आधी रात के समय व्यासजी ने अम्बिका के महल में प्रवेश किया। व्यासजी के रूप, रंग और गन्ध से अम्बिका ने डरकर दोनों आँखें मूँद लीं। व्यास ने नियोग-विधि से गर्भाधान किया, पर चूँकि आँखें मुँदी थीं, इसलिए अम्बिका के गर्भ से जन्मांध बालक उत्पन्न हुआ, जो अत्यन्त बली और पराक्रमी हुआ जिसका नाम धृतराष्ट्र रखा गया।

पुत्र के अन्धे होने से सत्यवती को सन्तोष न हुआ और उन्होंने फिर व्यास का आवाहन किया। इस बार अम्बालिका से पुत्र उत्पन्न करने का निवेदन किया। इस बार भी व्यास के रूप-रंग और गन्ध से अम्बालिका का भी शरीर डर के मारे पीला पड़ गया, जिससे 'पाण्डु' रोग का रोगी पुत्र उत्पन्न हुआ। जो आगे चलकर पाण्डु कहलाया। पाँचों पाण्डव इन्हीं पाण्डु के पुत्र हुए।

एक पुत्र अन्धा और दूसरा पाण्डुरोग से पीड़ित। सत्यवती अब भी सन्तुष्ट न हुई। उन्होंने पुनः व्यासजी का आवाहन किया। इस बार रानी अम्बिका की डर के मारे व्यास के पास जाने की हिम्मत न पड़ी। उन्होंने अपनी दासी को अपना वस्त्र पहनाकर भेज दिया। फलतः इस शूद्रा दासी से परम तेजस्वी, सात्त्विक, धर्मात्मा और धर्म के साक्षात् अवतार परम विवेकी महात्मा विदुरजी का जन्म हुआ। विदुरजी साक्षात् धर्म ही थे। शापवश उन्हें दासीपुत्र बनना पड़ा।

इस प्रकार धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर का जन्म हुआ जिनकी ही सन्तानें कौरव-पाण्डव नाम से प्रचलित हुईं। धृतराष्ट्र जन्मांध थे। विदुर दासीपुत्र थे, इसलिए पाण्डु गद्दी पर बैठे।

धृतराष्ट्र का विवाह गान्धारी से हुआ। गान्धारी के गर्भ से धृतराष्ट्र के दुर्योधन, दुःशासन, युयुत्स और दुःशल इत्यादि सौ पुत्र हुए। कहा जाता है कि ये सौ पुत्र व्यासजी के वरदान से उत्पन्न हुए थे। गान्धारी को सौ पुत्रों का वरदान था। समय पर उसके गर्भ रहा और दो वर्षों तक बच्चे न हुए। इसी बीच कुन्ती के परम तेजस्वी सूर्य के समान तेजस्वी बालक हुआ। गान्धारी को बड़ी ईर्ष्या हुई। शोक और डाह के मारे उसने अपने गर्भाशय पर हाथ दे मारा। परिणाम-स्वरूप मांस का पिण्ड बाहर आ गया और गान्धारी उसे फेंकने ही जा रही थी कि व्यासजी प्रकट हो गये और उस मांस-पिण्ड को १०० घड़ों में भरकर रखवा दिया। मांसपिण्ड के लिए कहा कि इसे पानी से तर करती रहो। दो वर्ष बाद मांसपिण्ड से दुर्योधन का जन्म हुआ। उसके जन्म लेते ही नाना प्रकार के अपशकुन और अप्राकृतिक उत्पात होने लगे। इसके बाद ६६वें दिन में शेष पुत्र पैदा हुए, इस प्रकार गान्धारी का वरदान सत्य हुआ।

इधर पाण्डु का विवाह कुन्ती और माद्री से हुआ। पाण्डु को कोई सन्तान न हो सकी; क्योंकि उन्हें शाप था कि यदि वे अपनी स्त्री से सम्भोग करेंगे तो उनकी मृत्यु हो जायगी। एक दिन पाण्डु शिकार के लिए जंगल में घूम रहे थे। इतने में मृग और मृगियों का एक जोड़ा रतिभोग करता दिखायी दिया। पाण्डु ने मृग को मार गिराया। वास्तव में वे कोई ऋषि थे, मृग-रूप धारण करके अपनी पत्नी से सहवास कर रहे थे। ऋषि ने शाप दे दिया कि 'जैसे ही तुम सहभोग करोगे, तुम्हारी मृत्यु हो जायगी।' इस कारण पाण्डु सन्तान न उत्पन्न कर सके। दुर्दैववश एक दिन माद्री को ऋतु-स्नान के उपरान्त शृङ्गार किये देखकर राजा कामातुर हो गये। जैसे ही उन्होंने वेग से माद्री का स्पर्श किया, मृत्यु हो गई। माद्री भी पति के साथ सती हो गई।

पाण्डु, जन्म जीवित थे, तभी अपनी पुत्र-उत्पत्ति की असमर्थता को जानकर

पुत्र-प्राप्ति के लिए काफी चिन्तित थे। एक दिन कुन्ती ने राजा से कहा है नाथ, मुझे महर्षि दुर्वासजी ने वह विद्या दी है, जिसके द्वारा मैं देवताओं का स्मरण करके उनसे औरस पुत्र प्राप्त कर सकती हूँ। केवल आपकी आज्ञा की आवश्यकता है।' राजा बड़े प्रसन्न हुए और आज्ञा दे दी। तब रानी ने कहा, 'किस देवता का आवाहन करूँ।' राजा ने धर्मात्मा पुत्र पाने की इच्छा से धर्मदेव के आवाहन की इच्छा की। कुन्ती ने वैसा ही किया और धर्मदेव के साक्षात् पुत्र युधिष्ठिर का जन्म हुआ। इस पर आकाशवाणी हुई कि 'यह पुत्र सत्यवादी, धर्मात्मा, पराक्रमी, यशस्वी और व्रतधारी होगा।' इसके पश्चात् वायुदेव के आवाहन से 'असीम बलशाली' भीमसेन का जन्म हुआ। कहा जाता है कि एक दिन कुन्ती बालक भीमसेन को गोद में लिये बैठी थी। उसी समय आश्रम पर एक बाघ दिखायी पड़ा। माँ भगीं। बालक पत्थर की शिला पर गिर पड़ा। बालक के शिर की चोट से पत्थर चूर-चूर हो गया। बचपन से भीमका शरीर वज्र था।

इसके पश्चात् पाण्डु ने चाहा कि देवेन्द्र इन्द्र का भी अंश होना चाहिए, जो बल, पराक्रम, उत्साह और व्रत में सर्वश्रेष्ठ हैं। इसलिए कुन्ती ने इन्द्र का आवाहन किया जिनके अंश से अर्जुन का जन्म हुआ। अर्जुन वाणविद्या में अद्वितीय थे। महाभारत में इन्हीं अर्जुन को भगवान ने गीता का उपदेश दिया था। इस प्रकार तीन देवों—धर्म के अंश युधिष्ठिर, वायुदेव के अंश भीम, और इन्द्र के अंश अर्जुन उत्पन्न हुए।

इसके उपरान्त माद्री ने भी पुत्र की इच्छा उत्पन्न की और पाण्डु से कहा कि 'मुझे भी कुन्ती के द्वारा पुत्र दिलाने की कृपा की जाय।' कुन्ती ने माद्री को भी वह मन्त्र बताया और किसी देवता का आवाहन करने को कहा। माद्री ने खूब सोच-समझकर अश्विनीकुमार देवों का स्मरण किया। इन देवों के अंश-स्वरूप माद्री के गर्भ से नकुल और सहदेव का जन्म हुआ। इस तरह पाण्डु के पाँच पुत्र देवताओं के अंशावतार के रूप में उत्पन्न हुए, जो पाण्डु के नाम से दिखायत हुए और धृतराष्ट्र के १०१ पुत्र हुए, जो कौरव कहलाये।

पाण्डु के पाँचों पुत्रों का जन्म शतशृङ्ग पर्वत पर तपस्या करते हुआ था। पुत्र की आशा न देखकर पाण्डु ऋषियों का सत्संग प्राप्त करने वहाँ चले गये।

थे। वहीं पुत्रों का जन्म हुआ और वहीं वनविहार में राजा की मृत्यु भी हुई।

इसके अनन्तर ऋषिगण पाँचों पाण्डवों एवं कुन्ती आदि को लेकर हस्तिनापुर पहुँचे और उन्हें भीष्म, विदुर और धृतराष्ट्र को सौंपा। पाण्डु का दाह-संस्कार हुआ। पाण्डव और कौरवों की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था एक साथ ही की गई, परन्तु पाँचों पाण्डव हर प्रकार से कौरवों से योग्य और तेजस्वी होते चले आते थे। बालक्रीडा में भीमसेन अकेले ही सौ कौरवों को नीचा दिखा देते। पद-पद पर कौरव हार जाया करते थे। यह देखकर दुर्योधन मन ही मन पाण्डवों से कुढ़ने लगा और पाण्डवों के विरुद्ध उसके मन में ग्रन्थि बन गई, जिसके फल-स्वरूप वह उनका अमंगल ही चाहने लगा। दुर्योधन ने कई बार छल द्वारा भीमसेन को मार डालने का प्रयत्न किया, पर सफल न हुआ। दुर्योधन का पाण्डवों से यह जन्मजात वैर आगे चलकर महाभारत के रूप में प्रकट हुआ।

प्रह्लाद

प्रह्लाद दैत्यराज हिरण्यकशिपु के पुत्र थे। कहा जाता है; हिरण्यकशिपु बड़ा ही प्रचण्ड प्रवृत्ति का राजा था। उसे ब्रह्मा से वरदान प्राप्त था कि उसे कोई भी प्राणी, किसी भी समय, किसी भी स्थान पर न मार सकेगा। इस अमरता का वर पाकर उसका अभिमान अत्यधिक बढ़ गया था। अत्याचार और निशाचरी वृत्ति का उसके राज्य में प्राधान्य था। देवता, ब्राह्मण, ऋषि और पृथ्वी सभी दुखी थे। एक दिन इन सबों ने विष्णु भगवान से इन अनाचारों का अन्त करने की प्रार्थना की तो भगवान ने आश्वासन दिया कि प्रह्लाद के जन्म लेने पर हिरण्यकशिपु की मृत्यु होगी। इस प्रकार प्रह्लाद का जन्म हुआ।

हिरण्यकशिपु जितना ही उच्च कोटि का आततायी था, उतना ही प्रह्लाद धर्मात्मा थे। बचपन ही से प्रह्लाद ईश्वर के चिन्तन, भजन और भक्ति में लीन रहते थे। खेल में, पाठशाला में, घर में, बाहर—जहाँ कहीं भी प्रह्लाद रहते, ईश्वर का ही गुण गाते थे। उधर इनके पिता ईश्वर-

विरोधी थे। हिरण्यकशिपु अपने को ही भगवान मानता था और प्रजा को भी ऐसा मनवाने के लिए बाध्य करता था। ईश्वर का नाम तक न लेने देता था। इधर प्रह्लाद का व्यवहार ठीक पिता के विपरीत था। वे स्वयं ही नहीं, बल्कि सभी असुर बालकों से भी 'राम राम' कहवाते तथा उन्हें ईश्वर की महत्ता का उपदेश देते थे। थोड़े ही समय में प्रह्लाद ने सभी बालकों को अपने पक्ष में करके अपना अनुयायी बना लिया। पिता को यह बात बड़ी अनुचित लगी। बुलाकर प्रह्लाद को समझाने लगे। प्रह्लाद पिता को ही उपदेश देने लगे कि 'हे पिताजी, ईश्वर का चिन्तन करो।' लाख प्रयत्न करने पर भी प्रह्लाद न माने तो हिरण्यकशिपु ने उन्हें बलपूर्वक मनवाने का उपाय किया।

फिर भी प्रह्लाद न माने। अब तो हिरण्यकशिपु प्रह्लाद को शत्रु की भाँति देखने लगा। जितना ही हिरण्यकशिपु प्रह्लाद को ईश्वर से विमुख होने को कहता, उतना ही प्रह्लाद ईश्वर की प्रशंसा द्वारा उसके जले पर नमक छिड़कते जाते। कोई उपाय न देखकर हिरण्यकशिपु प्रह्लाद के वध के उपाय में लग गया।

क्रोधातुर हो एक दिन हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को उठाकर पटक दिया। प्रह्लाद ने ईश्वर का ध्यान लगाया और ऐसा लगा जैसे वह फूल पर गिरे हों। इसके बाद हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को हुक्म दिया कि इसे मार डालो। पुनः प्रह्लाद ने ईश्वर का स्मरण किया। अस्त्रों को प्रहार का प्रह्लाद पर कोई प्रभाव न पड़ा। इसी प्रकार प्रह्लाद के मस्त हाथी से कुचलवाया, साँपों से डसवाया, पहाड़ की चोटी से गिरवाया, कृत्या राक्षसी से मरवाया, शम्बरासुर से अनेक प्रकार की माया का प्रयोग कराया, कोठरी में बन्द करवाया। विष पिलाया, खाना बन्द करवाया—इस प्रकार के उपायों द्वारा प्रह्लाद के वध की व्यवस्था की गई, किन्तु ईश्वर की कृपा से प्रह्लाद का बाल तक बाँका न हो सका।

इस प्रकार असफल होने पर प्रह्लाद को बर्फ में दबवाया, समुद्र में फेंकवाया तथा आँधी में छोड़ दिया, फिर भी ईश्वर ने उसे बचा लिया। तब राजा ने अपनी बहिन होलिका को कहा कि प्रह्लाद को लेकर अग्नि में

बैठ जाय । होलिका प्रह्लाद को लेकर अग्नि में बैठ गई, पर होलिका भस्म हो गई और प्रह्लाद जैसे के तैसे ही बाहर निकल आये ।

अब तो राजा को बड़ी चिन्ता हुई । सोचने लगे, अवश्य ही कोई रहस्य है इसमें । तंग आकर हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को एक खम्भे से बाँध दिया । गोधूलि का समय था, न दिन था न रात । हिरण्यकशिपु ने डाँटकर कहा 'देखता हूँ तेरा भगवान कहाँ है ?' प्रह्लाद ने उत्तर दिया 'पिताजी, वह भुक्त है, आप में है, इस खम्भे में है और सर्वत्र है ।' यह सुनते ही तो हिरण्यकशिपु आग-बबूला हो गया और गदा लेकर दूट पड़ा । इसी समय भीषण आवाज हुई । खम्भ फट गया । खम्भ में से ही नृसिंह भगवान निकले । उन्होंने अपने बाधनख से हिरण्यकशिपु का पेट फाड़ डाला । इस प्रकार उस दैत्यराज का उद्धार हो गया । देवगण आकाश से फूल बरसाने लगे । चारों ओर भगवान की स्तुति होने लगी । अधर्म और असत्य पर धर्म और सत्य की विजय हुई ।

प्रह्लाद भगवान के चरणों पर गिर पड़े और स्तुति करने लगे । भगवान् प्रसन्न हुए । राज्य में रामराज्य स्थापित हुआ । प्रजा ने प्रह्लाद को राजा बनाया । इस प्रकार प्रह्लाद धर्मपूर्वक राज्य करने लगे ।

पृथु की कथा

राजा वेन एक यशस्वी सम्राट् हो चुके हैं । उनके कोई सन्तान न थी । सन्तान की इच्छा से ब्राह्मणों ने राजा वेन की भुजाओं का मन्थन किया । इससे स्त्री-पुरुष का एक जोड़ा उत्पन्न हुआ । पुरुष को भगवान का अंश और स्त्री को उनकी शक्ति जानकर सब ब्राह्मणों ने उनकी स्तुति की और कहा कि यही आगे चलकर 'राजा पृथु' तथा यह स्त्री उनकी पत्नी होगी ।

समय आने पर राजा पृथु का विधिवत् राज्याभिषेक किया गया । प्रसन्न होकर कुवेर ने एक स्वर्ण का सिंहासन, वरुण ने छत्र, वायु ने चँवर, धर्म ने माला, इन्द्र ने मुकुट, यम ने दण्ड, ब्रह्मा ने कवच, सरस्वती ने हार, विष्णु ने चक्र सुदर्शन, लक्ष्मी ने सम्पत्ति, रुद्र ने तलवार, अम्बिका ने ढाल, चन्द्रमा ने अश्व, तुष्टा ने रथ, अग्नि ने धनुष, सूर्य ने बाण, पृथ्वी ने पादुकाएँ तथा ऋषियों ने आशीर्वाद प्रदान किया ।

इस प्रकार पृथु राजा हुए। पृथु भगवान के ही अवतार थे। राज्य करने लगे। यह वह समय था कि जब सारी पृथ्वी क्षीण हो गई थी। अन्न की उत्पत्ति न हो पाती थी। औषधियाँ, यज्ञ-सामग्री आदि सभी वस्तुएँ पृथ्वी ने अपने उदर में छिपा रखी थी। सारी प्रजा कष्ट से पीड़ित थी। एक दिन प्रजा ने जाकर राजा पृथु से अपना कष्ट बयान किया। राजा ने ज्ञान से जान लिया कि सभी वस्तुओं को पृथ्वी ने छिपा रखा है। अतएव क्रोध से लाल होकर उन्होंने वाण चढ़ाया और पृथ्वी को मारने चले

राजा पृथु के चलने पर पृथ्वी ने गौ का रूप धारण करके भयभीत होकर भागना प्रारम्भ किया। राजा ने पीछा किया। जब पृथ्वी ने देखा कि वह बच नहीं सकती तो मुड़ पड़ी और पृथु के चरणों पर गिरकर कहा, 'भगवन्, आप साक्षात् ईश्वर हैं। पूर्व समय में ब्रह्माजी ने धन-धान्यों की उत्पत्ति की थी। मैंने देखा कि यम-नियम का पालन न करनेवाले दुराचारी ही उन्हें खाये जा रहे हैं। राजा लोग गौओं का पालन नहीं कर रहे हैं। सब लोग चोरों के समान हो गये हैं। इसलिए मैंने धन-धान्यों और यज्ञ के लिए औषधियों को छिपा रखा है। अब एक उपाय है। राजन् ! आप एक उचित पात्र, मेरे उपयुक्त बछड़े तथा दुहनेवाले की व्यवस्था करें तो उस दोहन द्वारा मैं सभी वस्तुओं को दूध के रूप में आपको दे सकती हूँ। इसके बाद मुझे (पृथ्वी को) समतल बना दीजिये, ताकि मेरी अन्तर की आर्द्रता बनी रहे और वर्षा के उपरान्त भी सर्वत्र जल बना रहे।'

पृथ्वी की प्रिय बात सुनकर पृथु ने स्वायम्भुव मनु को बछड़ा बनाकर अपने हाथ से अपनी अभीष्ट वस्तुएँ दुह लीं। पृथु के समान अन्य विश्व जनों ने भी अपनी-अपनी अभीष्ट वस्तुएँ दुह लीं। ऋषियों ने वृहस्पति जी को बछड़ा बनाकर इन्द्रिय (वाणी, मन, श्रोत्र) रूपी पात्र में वेद को दुहा; देवों ने इन्द्र को बछड़ा बनाकर बल, वीर्य, शारीरिक और मानसिक शक्ति को दुह लिया; दैत्यों ने प्रह्लाद जी को बछड़ा बनाकर लोहे के पात्र में मदिरा, ताड़ी आदि दूध के रूप में दुहा; गन्धर्व और अप्सराओं ने विष्णु को बछड़ा बनाकर कमलरूपी पात्र में संगीत, माधुर्य और सौन्दर्य को दुहा। इसी प्रकार पितृगणों ने श्राद्ध के लिए अन्न; सिद्धों ने अणिमा आदि अ

सिद्धियों को दुहा; मायावियों ने अन्तर्धान होने और विचित्र रूप धारण करने की विद्या को दुहा। विषैले साँप-बिच्छुओं ने विष दुहा, पशुओं ने तृण-घास आदि; मांसाहारियों ने मांस; वृद्धों ने अनेक रसों को; पर्वतों ने धातुओं को दुहा लिया। अभिप्राय यह कि सब लोगों ने अपनी-अपनी अभीष्ट वस्तुएँ प्राप्त कर लीं।

इस प्रकार पृथु ने पृथ्वी को समतल करके उपयुक्त स्थानों पर गाँव, नगर आदि बसा दिये। तभी से गाँव, नगर आदि की परम्परा चल पड़ी। इस प्रकार पृथु राज्य करने लगे। राजा ने सौ अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया। निन्यानवे यज्ञ के पश्चात् इन्द्र ने सौवें यज्ञ में काफी बाधा डाली, फलतः वह यज्ञ पूरा न हो सका और निन्यानवे यज्ञ करके पृथु ने बन्द कर दिया। इसके पश्चात् पृथु ने अपनी प्रजा को उपदेश देते हुए काफी समय तक राज्य भोगा और अन्त में पुत्रों को राजकाज सौंपकर तपस्या को चले गये।

पुरञ्जनोपाख्यान

पूर्वकाल में पुरञ्जन नाम के राजा थे। एक दिन अपने उपयुक्त रहने के स्थान के लिए वे पृथ्वी का भ्रमण करने लगे। सारी पृथ्वी ढूँढ़ आये, कहीं स्थान न मिला। ऐसे ही घूमते-घूमते वे एक दिन हिमालय के दक्षिण शिखरों के भरतखण्ड में पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक नौ द्वारोंवाला सुन्दर नगर देखा। यह नगर अति ही सुन्दर था, जिसमें अटारियाँ, परकोटे, झरोखे तथा सोने-चाँदी के शिखर दिखायी पड़ते थे। नगर के बाहर फल, फूलों तथा लताओं से सजा हुआ एक बगीचा था। उसमें एक सुन्दर सरोवर था। फूलों की सुगन्धि और भौरों के गुञ्जार से सारा वातावरण गमगमा रहा था।

उसी बगीचे में पुरञ्जन ने एक सुन्दरी को आते देखा। उसके साथ दस सेवक थे और आगे-आगे एक नाग फण उठाये चल रहा था। जब राजा ने यह देखा तो मुग्ध हो गये और उस सुन्दरी का समाचार पूछने लगे। सुन्दरी ने कहा कि 'मुझे अपने बारे में कुछ भी नहीं ज्ञात है। मैं केवल इतना ही जानती हूँ कि हम लोग इस नगर में रह रहे हैं। ये सब मेरे सेवक हैं। यह नाग मेरी तथा नगर की रखवाली करता है।' राजा और भी

६ पौ. क.

आकर्षित हुए और बोले 'हे प्रिय ! ऐसा है तो मेरी बात मानो और मेरी जीवन-संगिनी बनकर मुझे वृत्त करो । मैं बहुत अवृत्त हूँ ।' सुन्दरी ने उत्तर दिया 'आप ऐसे वीर पुरुष को पाकर भला कौन स्त्री अपने को धन्य न समझेगी ।'

इस प्रकार उस कन्या को अपनी रानी बनाकर राजा पुरञ्जन उसी नगरी में विहार करने लगे । एक हजार वर्ष बीत गया । दोनों एक-दूसरे को क्षण भर भी न छोड़ पाते थे । परिणाम यह हुआ कि भोग-विलास और सन्तान-उत्पत्ति करते-करते राजा बहुत क्षीण हो गये और अभी तक उन्हें सांसारिक सुखों एवं स्त्री-प्रसंग से वृत्ति न मिली । क्षीण हो जाने पर शत्रुओं ने नगर को लूटकर राजा को बहिष्कृत कर दिया । इधर-उधर घूमते-घूमते राजा का अन्त समय आ पहुँचा । मृत्यु के समय भी उनके मन से स्त्री की याद न गई । परिणाम यह हुआ कि दूसरे जन्म में राजा को स्त्री की योगिता प्राप्त हुई ।

राजा पुरञ्जन दूसरे जन्म में विदर्भराज की कन्या के रूप में जन्मे । इनका विवाह मलयध्वज राजा के साथ हुआ । राजा पुरञ्जन के अविज्ञात नाम का एक मित्र था । राजा मोह-मद में आकर अपने मित्र को भूल गये । आज जब विदर्भराज की कन्या तथा मलयध्वज की स्त्री के रूप में जन्मे, तब भी उन्हें मित्र की याद न रही । इस प्रकार समय बीतता गया । वृद्ध और लुप्त होकर राजा मलयध्वज अपनी पत्नी सहित वन को गये । वहाँ राजा का स्वर्गवास हुआ । पत्नी फूट-फूटकर रोने लगी । उसी समय उसे एक ब्राह्मण मिला । उसने स्त्री का सब हाल पूछा और रानी ने पूरा किस्सा बयान कर दिया । तब ब्राह्मण बोला 'देखो, तुम न राजा की पत्नी हो, न पुरञ्जन राजा थे, जिसको स्त्री ने मोह में बाँध रखा था, हम दोनों तो हंस हैं । वही कुछ तुम कह रही हो यह सब मेरी फैलायी हुई माया है । मैं ईश्वर हूँ और तुम जीव । इसके अतिरिक्त सब भ्रूट है । जानी पुरुष हममें (ईश्वर में) और आप (जीव) में कोई अन्तर नहीं समझते । वह नौ द्वारोंवाला नर यही शरीर है, स्त्री माया है, जिसमें तुम (जीव) भटकते फिर रहे थे । इस प्रकार जीव अपने स्वरूप को याद कर अपने मित्र ईश्वर में लीन हो गया ।'

बलि-वामन

एक समय राजा बलि ने ब्राह्मणदेव गुरु शुक्राचार्य के सहयोग से विश्व-जित् यज्ञ किया। यज्ञ सफल रहा, जिसके फलस्वरूप बलि ने विश्व को जीतकर स्वर्ग पर भी चढ़ाई कर दी। शुक्राचार्य और बलि के पराक्रम की बात तथा अमरावती पर बलि की चढ़ाई से देवगण बहुत घबराये और गुरु बृहस्पति के पास पहुँचे। बृहस्पति ने उत्तर दिया कि इस समय शुक्राचार्य के प्रभाव को कोई मेट नहीं सकता और बलि की विजय अवश्यमावी है, अतएव आप सब वेष बदलकर स्वर्ग छोड़ दीजिये। बाध्य होकर देवताओं ने देवलोक छोड़ दिया और बलि ने विजय प्राप्त की और सारा देवलोक उसके अधीन हो गया।

देवमाता अदिति बड़ी सन्तप्त हुई। अपने पति कश्यप के आदेश से अदिति ने विष्णु की आराधना की। भगवान ने उसे दर्शन दिया। अदिति ने देवताओं का कष्ट सुनाया और उसके निवारण की प्रार्थना की। भगवान ने वचन दिया कि तुम पतिदेव की सेवा करो। समय आने पर मैं कष्ट दूर करूँगा। माताजी तुरन्त समझ गई कि भगवान स्वयं कश्यप के माध्यम से मेरे गर्भ में प्रवेश करके अवतार लेंगे। बहुत प्रसन्न हुई और नियम धर्म से पतिसेवा करने लगी। समय आने पर अदिति के गर्भ में भगवान का प्रवेश हुआ। देवगण स्तुति करने लगे। भगवान ने अपने वास्तविक रूप में अवतार लेकर माता-पिता एवं देवगणों को हर्षित किया। फिर भगवान ने तुरन्त वामन रूप धारण कर लिया।

इसी समय राजा बलि नर्मदा नदी के किनारे 'भृगुकच्छ' स्थान पर श्रेष्ठ यज्ञ का अनुष्ठान कर रहे थे। वामन भगवान ने बलि की यज्ञशाला में प्रवेश किया। बलि ने वामन भगवान का ब्राह्मण-कुमार के रूप में काफी स्वागत किया। भगवान के पधारने से यज्ञ की प्रभा और भी बढ़ गई। राजा बलि ने समझ लिया कि ये ब्राह्मण-कुमार कुछ चाहते हैं। बलि बड़े दानी भी थे। उन्होंने ब्राह्मण-कुमार से कहा 'आप जो चाहते हों, माँग लें। मुझे देने में कोई संकोच न होगा।' वामन भगवान ने राजा की भूरि-भूरि प्रशंसा की और कहा 'दैत्यराज, मैं केवल थोड़ी-सी पृथ्वी अर्थात् अपने पैरों से केवल तीन

पग चाहता हूँ।' भगवान की अल्प माँग पर बलि को बड़ा आश्चर्य हुआ और कहने लगे 'ब्राह्मण-कुमार, यह आपने क्या माँगा ? मेरे पास जो याचक आता और माँगता है, उसे फिर याचना करने की आवश्यकता नहीं रह जानी चाहिए। खैर, आपने जो माँगा है वह मिलेगा। जहाँ चाहें, वहाँ तीन पग नाप लें।'।

यह देखकर शुक्राचार्य बोले, 'राजा साहब, आप कुछ नहीं समझ पा रहे हैं। आपने अपना तथा दैत्यों का बड़ा अनर्थ किया। यह ब्राह्मण-कुमार नहीं हैं, बल्कि साक्षात् अविनाशी भगवान हैं, जिन्होंने देवताओं का काम बनाने के लिए अदिति के गर्भ से जन्म लिया है। अभी इनका विराट् रूप होगा तो इनका शरीर आकाश में पहुँच जायगा, तब आप इन्हें तीसरा पग कहाँ से देंगे। आपकी प्रतिज्ञा अब पूरी न हो सकेगी।' राजा बलि ने उत्तर दिया, 'आप जो कुछ कह रहे हैं, सत्य है; किन्तु मैं प्रह्लाद का नाती हूँ, अधर्म नहीं कर सकता, जो प्रतिज्ञा कर ली, उससे विमुख नहीं हो सकता।' गुरु शुक्राचार्य जी को अपनी आज्ञा की उपेक्षा देखकर क्रोध आ गया और उन्होंने राजा को शाप दिया कि 'तुम अपने गर्व के कारण लक्ष्मी से हाथ धो बैठोगे।'।

इसी समय बलि कुश, अक्षत् आदि लेकर संकल्प करने को तैयार हुए। बड़ी अद्भुत घटना घटी। दामन भगवान का शरीर विराट् हो गया। दो ही पग में उन्होंने पृथ्वी तथा आकाश और स्वर्गलोक नाप लिया और अभी तीसरा पग शेष ही था। यह देखकर दैत्यों को क्रोध आ गया और वे अपने शत्रु देवों और भगवान की चाल को समझ गये। अस्त्र-शस्त्र लेकर भगवान पर दूटे पड़े, किन्तु भगवान के पार्षदों ने उन्हें अपने बल से रोक दिया। उधर बलि ने भी युद्ध करने से दैत्यों को रोका। अब समस्या यह थी कि तीसरा पग भगवान रखें तो कहाँ रखें ? बलि के पास तो अब कुछ बचा ही नहीं। इसी समय भगवान बोले 'हे राजन् ! दो पग भूमि तो आपने दी, पर अब तीसरा पग भी दीजिये। चूँकि अब आपके पास कुछ नहीं है, अतएव यह आपका दान अधूरा रह गया। यह पाप है, धोखा है और इसके फलस्वरूप अब आपको नरक-लोक में जाना पड़ेगा।' इसलिए भगवान ने गरुड़ को आज्ञा दी। गरुड़ ने वरुण-पाश में बलि को बाँध लिया।

बलि को इस प्रकार बँधा देखकर बलि की स्त्री विन्ध्याचली और भक्त ब्रह्माद आदि ने भगवान की स्तुति करना प्रारम्भ किया। भगवान करुणामय प्रसन्न होकर बोले 'हे भक्तो, मैं जिस पर कृपा करना चाहता हूँ उसे पहले धनहीन कर देता हूँ, क्योंकि धन हर एक साधन में बाधक होता है। मैं प्रसन्न होता हूँ और बलि को वह सुतल्लोक, जिसके लिए देवगण भी तरसते हैं, प्रदान करता हूँ तथा उनकी रक्षा के लिए अपना चक्रसुदर्शन भी नियुक्त किये देता हूँ।' इस प्रकार बलि बन्धन से मुक्त होकर अपने बन्धु-बान्धवों के साथ सुतल्लोक का राज भोगने लगे और इधर देवताओं को खोया हुआ स्वर्ग भी प्राप्त हो गया। यह है भगवान की लीलामयी कृपा।

ब्रह्माजी की उत्पत्ति

सृष्टि के पूर्व सर्वत्र जल ही जल था। उस समय एकमात्र भगवान नारायण देव शेषशय्या पर विश्राम कर रहे थे। सृष्टिकर्म से विश्राम लेने के लिए योगनिद्रा में निमग्न थे। उन्होंने अपने नेत्र बन्द किये थे। भगवान अपनी सृष्टि के समस्त सूक्ष्म प्राणियों के शरीर को अपने शरीर में लीन किये अपने आधार-भूत जल में जिस समय शयन कर रहे थे, उस समय उन्हें सृष्टि-काल आने पर पुनः जगाने के लिए उन्होंने केवल कालशक्ति को जाग्रत कर रखा था। इस प्रकार उन्होंने एक हजार चतुर्युगपर्यन्त शयन किया। सृष्टि-समय आने पर कालशक्ति ने भगवान को जीवों की सृष्टि करने के लिए जगाया। तब भगवान ने अपने शरीर में निहित जीवों एवं लोकों को देखा। भगवान की अन्तरात्मा में लीन सूक्ष्म जीवों के लिंग शरीर आदि का पुञ्ज कमल-कोश के रूप में भगवान की नाभि से ऊपर को उठने लगा। इस कमल का तेज हजारों सूर्यों से भी अधिक था। उस सर्वलोकमय कमल में अन्तर्यामी श्री विष्णु भगवान प्रवेश कर गये। इसी कमल-दल के पुञ्ज से साक्षात् वेदमूर्ति श्री ब्रह्माजी प्रकट हुए। इसीलिए इन्हें स्वयंभू भी कहते हैं। प्रकट होते समय जब उन्हें कोई लोक न दिखाई पड़ा तो वे आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगे। चारों ओर सिर घुमा-घुमाकर देखने से उनके चार मुख हो गये। इसीलिए उन्हें चतुरानन भी कहते हैं। फिर भी उन्हें कुछ दिखाई न पड़ा। वे सोचने

लगे 'इस कमल की कर्णिका (गद्दी) पर मैं हूँ तो यह कमल कहाँ से आया और यह कहाँ पर टिका है ? यह जानने के लिए कमल के छिद्रों से होकर ब्रह्माजी जल में प्रवेश कर गये । विष्णु भगवान के नाभिस्थल तक पहुँच जाने पर भी उन्हें कुछ पता न चला । पुनः कमलपुञ्ज पर वापस चले आये । चित्त एकाग्र करके योगाभ्यास करते-करते सौ वर्ष बीत गये । अन्त में जिस आधार को वे पहले खोजने पर भी न पा सके थे, वह उन्हें अपने आप दिखाई पड़ने लगा । उन्होंने देखा कि परम-ब्रह्म विष्णु भगवान् शेषनाग-रूपी शय्या पर विराजमान हैं । भगवान का दर्शन करके ब्रह्माजी ने नाना प्रकार से भगवान की स्तुति की । भगवान ने प्रसन्न होकर ब्रह्माजी को दिव्य-ज्ञान प्रदान किया और सृष्टि रचने का आदेश दिया ।

ब्रह्माजी सृष्टि-रचना में लग गये । सबसे पहले उन्होंने पाँच वृत्तियों—तम (अविद्या), मोह (अस्मिता), महामोह (राग), तामिस्र (द्वेष) और अन्ध तामिस्र (अभिनिवेश) रचा । इस पापमयी सृष्टि से ब्रह्मा को सन्तोष न हुआ, तब उन्होंने दिव्य सृष्टि करने के उद्देश्य से सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चार निवृत्ति-परायण ऊर्ध्वरेता मुनियों को उत्पन्न किया और उन्हें सृष्टि की रचना करने का आदेश दिया; किन्तु इन चारों मुनियों की प्रवृत्ति तो भगवान की आराधना-पूजा में थी, इसलिए इन्होंने सृष्टि-रचना में कोई रुचि न प्रकट की । आज्ञा का उल्लंघन देखकर ब्रह्माजी को क्रोध आ गया और क्रोध के फलस्वरूप एक नीले और लाल रंग का बालक उत्पन्न हो आया और तुरन्त रोने लगा कि 'मेरा क्या नाम और स्थान तथा काम होगा ।' ब्रह्मा ने कहा 'तुरन्त रोने के नाते प्रजा तुम्हें 'रुद्र' कहेगी और तुम्हारे रहने के स्थान—हृदय, इन्द्रिय, प्राण, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा और तप होंगे । तुम्हारे नाम—मन्यु, मनु, महिनस, महान्, शिव, ऋतध्वज, उग्ररेता, भव, काल, वामदेव और धृतव्रत होंगे । इसी प्रकार धी, वृत्ति, उशना, उमा, नियुत, सर्पि, इला, अम्बिका, इरावती, सुधा और दीक्षा—ये ग्यारह रुद्राणियाँ होंगी । अब तुम इन पत्नियों को लेकर सृष्टि करो । किन्तु ब्रह्माजी रुद्र की सृष्टि से भी सन्तुष्ट न हुए, क्योंकि रुद्र से रचित रुद्र प्रजा को स्वयं खाने लगे । अतएव ब्रह्मा

ने उन रुद्र की चित्त-वृत्ति की शुद्धि के लिए उन्हें तप करने का आदेश दिया। पुनः ब्रह्माजी ने अपने शरीर के अंगों से दस पुत्रों—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वशिष्ठ, दक्ष और नारद को जन्म दिया। फिर ब्रह्मा के दायें स्तन से धर्म; पीठ से अधर्म, अधर्म से मृत्यु; हृदय से काम, मौंहों से क्रोध, ओंठ से लोभ, मुख से विद्या और वाणी की देवी सरस्वती; लिंग से समुद्र, गुदा से पाप का निवास-स्थान निःश्रुति और परछाई से प्रजापति कर्दम का जन्म हुआ। इस प्रकार ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना की।

एक समय अपनी ही कन्या सरस्वती के रूप-रंग पर मोहित होकर ब्रह्माजी कामासक्त हो गये। उस समय उन्हें उनके पुत्र मरीचि आदि नाना प्रकार से समझाने लगे। पुत्रों के इस प्रकार से समझाने पर ब्रह्माजी बहुत लज्जित हुए और तुरन्त उन्होंने अपना वह शरीर त्याग दिया। (यह कथा इसी प्रकार भागवत के तीसरे स्कन्ध बारहवें अध्याय में आई है, श्लोक नं० २८ से ३३ है। किन्तु कहावत यह भी प्रचलित है कि पुत्रों के समझाने से ब्रह्माजी नहीं माने और सरस्वती की ओर बढ़े। सरस्वती भर्गी और ब्रह्मा ने पीछा किया। डरकर सरस्वती ने मृगी का रूप धारण कर लिया तो ब्रह्मा ने मृग का रूप ले लिया और इस प्रकार जघन्य कर्म कर ही डाला।)

ब्रह्माजी ने शरीर तो त्याग दिया; किन्तु सृष्टि की चिन्ता उन्हें लगी ही रही; क्योंकि उनके पुत्रों से सृष्टि का अधिक विस्तार न हो सका। सोचते-सोचते ही उनके चारों मुख से चारों वेद उत्पन्न हो आये। इसी प्रकार शास्त्र, विद्याएँ, वृत्तियाँ और व्रत आदि भी उत्पन्न हो गये। इस प्रकार सोचते ही सोचते उनके शरीर के अकस्मात् ही दो भाग अपने आप हो गये। 'क' नाम है ब्रह्मा का और उनके शरीर के दो भाग होने के नाते इस शरीर का भी काय नाम पड़ गया। शरीर के इन दो भागों से एक स्त्री-पुरुष का जोड़ा उत्पन्न हो आया। पुरुष तो सार्वभौम सम्राट् मनु हुए और स्त्री उनकी महारानी शतरूपा हुई। तबसे मिथुन धर्म (स्त्री-सम्भोग) से प्रजा की सृष्टि हुई। मनु की पाँच सन्तानें हुईं। दो पुरुष जिनके नाम प्रियव्रत और उत्तानपाद हुए तथा तीन कन्याएँ आकूति, देवहूति और प्रसूति। इन्हीं सन्तानों से सारा संसार प्रजा से भर गया।

बालि-सुग्रीव

बालि-सुग्रीव दोनों सगे भाई थे तथा भगवान के परम भक्त थे। इनके जन्म की कथा पुराणों में इस प्रकार आई है। एक समय ब्रह्मा ने अपना नेत्र खोला तो उसमें कीचड़ आ गया था। कीचड़ निकालकर उन्होंने फेंक दिया। कीचड़ के भूमि पर पड़ते ही उसमें से एक बन्दर उत्पन्न हो गया, जिसे लोग ऋक्षराज कहने लगे। ब्रह्मा ने आदेश दिया कि जाओ जंगल में मीठे फल खाओ और जहाँ कहीं राक्षसों को पाओ मार डालो। ब्रह्मा की आज्ञा पाकर ऋक्षराज भीषण आक्रोश करता हुआ जंगल की ओर चला गया और राक्षसों को ढूँढ़-ढूँढ़कर मारने लगा।

इसी प्रकार वन में घूमते हुए उसे एक दिन एक सुन्दर कुँआ दिखाई पड़ा। ऋक्षराज ने उसमें झाँका तो देखा कि उसके अन्दर भी एक राक्षस बैठा है। वास्तव में वह राक्षस नहीं था, बल्कि वह ऋक्षराज की परछाई थी। ऋक्षराज निर्भय उस कुँए में परछाई राक्षस को मारने के लिए कूद पड़ा। आश्चर्य की बात कि कुँए में कूदते ही उसका शरीर एक सुन्दर स्त्री का हो गया। किसी प्रकार वह स्त्री बाहर निकली। इतना सुन्दर और आकर्षक उसका रूप था कि सूर्य और इन्द्र उसके मोहनी रूप को देखकर मुग्ध हो गये। इस प्रकार मोहित और कामातुर इन्द्र और सूर्य का वीर्य अपने आप स्खलित हो गया। इन्द्र का वीर्य उस स्त्री के बालों पर पड़ा, जिससे बालि पैदा हुआ। बालों से उत्पन्न होने के कारण उसका नाम बालि पड़ा। सूर्य का वीर्य उस स्त्री के गले अर्थात् ग्रीवा पर पड़ा, जिससे सुग्रीव उत्पन्न हुआ। ग्रीवा से उत्पन्न होने के कारण उसका नाम सुग्रीव पड़ा।

इसके पश्चात् एक और ही अद्भुत घटना घटी। बालि-सुग्रीव को जन्म देकर वह स्त्री पुनः पुरुष हो गया। इस प्रकार दोनों पुत्रों को लेकर वह पुरुष ब्रह्मा के पास पहुँचा और अपने पुत्रों की उत्पत्ति का वृत्तान्त कहा। ब्रह्मा ने कहा कि भगवान का होनहार बड़ा प्रबल होता है। अब तुम लोग जाकर किष्किन्धा पर्वत पर निवास करो। त्रेतायुग में भगवान रामचन्द्र तपस्वी के वेष में वहाँ जायँगे। उनके दर्शन पाकर तुम लोग कृतार्थ हो जाओगे।

ब्रह्मा की आज्ञा शिरोधार्य करके बालि और सुग्रीव किष्किन्धा पर्वत पर निवास करने लगे। बालि राजा बन गया और सुग्रीव सेवक।

एक समय की घटना है कि एक महाबली राक्षस उत्पात मचाता हुआ किष्किन्धा पहुँचा। उसने बालि को ललकारा। पर बालि में असीम बल था। बालि राक्षस के पीछे दौड़ा। राक्षस मायावी था। वह एक गुफा में घुस गया। बालि के साथ सुग्रीव था। बालि ने सुग्रीव से कहा 'मैं गुफा में घुस रहा हूँ। १५ दिन तक मेरी राह देखना, यदि मैं न लौटूँ तो मरा समझ लेना।' यह कहकर बालि गुफा में प्रवेश कर गया। पन्द्रह दिन तक सुग्रीव ने बालि की प्रतीक्षा की और बालि वापस नहीं आया। पन्द्रहवें दिन उस गुफा से बड़े जोर की रुधिर की धारा बही। सुग्रीव ने समझ लिया कि बालि मारा गया। सुग्रीव ने गुफा के मुँह पर एक बड़े पत्थर का पहाड़ रखकर मूँद दिया और वापस पम्पापुर आ गया।

पम्पापुर वापस आने पर तथा यह निश्चय हो जाने पर कि बालि मर गया, मन्त्रियों ने सुग्रीव को राजा बना दिया। इधर बालि ने राक्षस को मार डाला और काफी दिनों के बाद वह घर आया। रुधिर की धारा जो सुग्रीव ने देखी थी, वह राक्षस के रुधिर की ही थी। जब बालि ने देखा कि सुग्रीव राजा बन बैठा है तो भाई का यह विश्वासघात देखकर उसे बड़ा क्रोध आया। उसने सुग्रीव को खूब पीटा तथा उसकी स्त्री को छीनकर उसे घर से निकाल दिया। अब सुग्रीव बालि के राज्य से निकलकर हनुमान जी के साथ किष्किन्धा पर्वत पर रहने लगा। यहीं पर सुग्रीव से और श्री रामचन्द्र जी से मित्रता हुई। सुग्रीव ने रामचन्द्र जी को अपने निर्वासन का कारण सुनाया। रामचन्द्र को बालि के इस कार्य में स्पष्ट अन्याय मालूम पड़ा। बालि ने अपने छोटे भाई की स्त्री का अपहरण किया था तथा उसका भोग कर रहा था यह और भी अन्याय और पाप का कार्य था। श्री रामचन्द्र जी ने अपने मित्र सुग्रीव को आश्वासन दिया कि 'मैं बालि को मारकर तुम्हें राज दिलाऊँगा।'

बालि को मातंग ऋषि का श्राप था कि जैसे ही वह किष्किन्धा पर्वत पर जायगा, उसकी मृत्यु हो जायगी। इसीलिए वह सुग्रीव के स्थान पर नहीं जाता था। फिर भी सुग्रीव डरा ही करता था। श्री रामचन्द्र ने उसे अमय दान

दिया। सुग्रीव ने बताया कि बालि अत्यन्त बली हैं। उसके समान बली विश्व में कोई नहीं था। इसलिए उसे प्रत्यक्ष मारना असम्भव था। लीलामय भगवान राम ने उसे छिपकर मारने का आश्वासन दिया। उन्होंने सुग्रीव से कहा कि तुम जाकर बालि से युद्ध करो और चुपके से छिपकर मैं उसे एक ही बाण में मार डालूँगा। बालि और सुग्रीव रूप-रंग में बिल्कुल समान थे, इसलिए बालि को पहचानना कठिन था तो श्री रामचन्द्र जी ने सुग्रीव के गले में एक माला डाल दी, ताकि पहचान बनी रहे। इस प्रकार धोके से मारकर राम ने सुग्रीव को राज्य दिया और उसके बदले में सुग्रीव ने सीता की खोज करवायी।

बालि अत्यन्त बली था। उसका सामना करनेवाला उसके समय में कोई नहीं था। रावण ऐसे वीर को उसने लज्जित किया था। रावण भी अत्यन्त बली और घमण्डी था। तीनों लोकों को अपने बाहुबल से जीतकर रावण नाना प्रकार के वीरों को ललकारता हुआ पृथ्वी पर घूमने लगा। जहाँ कहीं पहुँचता, वीरों को हराकर अपने अधीन कर लेता। इसी प्रकार घूमते-घूमते रावण बालि के यहाँ भी पहुँचा। रावण ने बालि को युद्ध करने के लिए ललकारा। उस समय बालि तर्पण में व्यस्त था। उसने रावण की बातों पर ध्यान नहीं दिया। जब रावण ने उसे इस प्रकार उदासीन देखा तो क्रोध से चिल्लाया। अपने तर्पण में विघ्न जानकर बालि ने रावण को पकड़कर सरलता से अपनी काँख में दाब लिया और निर्दिघ्न तर्पण करता रहा। जैसे शेर चूहे को पकड़ ले, उसी प्रकार बालि रावण को छः महीने तक दाबे रहा और घूम-घूमकर नाना प्रकार के तीर्थों और सातों समुद्रों का तर्पण करता रहा। अन्त में जब उसका तर्पण समाप्त हुआ, तब उसने रावण को छोड़ा और युद्ध करने को तैयार हुआ। तमाम तपस्या और वरदान से कमाया हुआ सत्र गर्व रावण का चकनाचूर हो गया। अब बेचारा बालि से लड़ने की क्या हिम्मत दिखाता। लज्जित होकर रावण बोला 'मैं आपकी वीरता और धीरता से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। मुझे तीनों लोकों में ऐसा बली आज तक नहीं मिला था। मैं तो हार चुका बिना युद्ध के ही। अब मैं आपसे मित्रता करना चाहता हूँ।' इस प्रकार बालि के बल से प्रभावित होकर और उसका लोहा मानकर रावण ने बालि से मित्रता कर ली।

बाल-लीला

(१) जब कृष्ण भगवान तीन महीने के हुए तो यशोदा के यहाँ करवट बदलने का उत्सव मनाया जा रहा था । तमाम स्त्रियाँ घर में भरी हुई थीं । हवन-यज्ञ हो रहा था । दान-पुण्य भी खुले हाथों हो रहा था, सभी प्रसन्न थे । मस्त थे । यशोदा ने कृष्ण को तेल-उबटन करके करवट बदलकर एक शय्या पर सुला दिया । इधर वे पुनः उत्सव तथा आर्याँ हुई स्त्रियों में मस्त हो गईं । इसी बीच कृष्ण जी स्तनपान के लिए रोने लगे; किन्तु यशोदा तो मस्त थीं, कहाँ सुनतीं । कृष्ण हाथ-पाँव झटकने लगे । वे एक शकट अर्थात् छकड़े के नीचे सोये थे । उस पर दूध, दही और घी के मटके रखे थे । कृष्ण का पाँव लगते ही वह छकड़ा उल्ट गया और मटके आदि के फूटने की भीषण आवाज हुई । सभी दौड़ पड़े कि क्या हो गया ? देखा तो छकड़ा उल्टा पड़ा है । बड़ी अद्भुत घटना थी । सब चकित हो गये, यशोदा जी ने कृष्ण को उठा लिया ।

कहा जाता है कि वह हिरण्याक्ष का पुत्र उत्कच था । उसे लोमश ऋषि के शाप से देहरहित होना पड़ा था । वही व्रज में भगवान के चरणों की लालसा से शकट बना हुआ था । आज अवसर अच्छा मिल गया । भगवान ने उस उत्कच राक्षस को उद्धार करने के लिए जान-बूझकर अपना चरण बढ़ा दिया था । इस प्रकार से उसका उद्धार हो गया ।

(२) एक दिन भगवान विस्तर पर पड़े थे । ४-६ माह के थे । उसी समय कंस ने पूतना राक्षसी को भगवान के पास उन्हें मारने के लिए भेजा । पूतना का एक मात्र कार्य ही यही था कि स्तन में विष लगा कर बच्चों को स्तन पिलाना तथा उन्हें मार डालना । वह नन्द बाबा के यहाँ जा पहुँची । उस समय उसने एक अति सुन्दरी का रूप बना लिया था । घर पहुँच कर देखती है कि बालक कृष्ण विस्तर पर लेटे हैं । अन्तर्यामी भगवान ने अपनी आँखें मूँद लीं । पूतना ने इधर-उधर देख कर उन्हें उठा लिया । भगवान ने उस समय क्रोध को भी अपना साथी बनाया । स्वयं तो दूध पीने लगे और क्रोध पूतना के प्राण पीने लगा । पूतना चिल्लाई 'अरे छोड़ दे, बस, बस' किन्तु कौन छोड़ता है ! दोनों हाथों से भगवान ऐसा कसकर दूध चूसने लगे

कि पूतना के अनेक मर्मस्थल फटने लगे। वह हाथ-पैर पटक-पटककर रोने लगी। नेत्र उल्ट गये। सारा शरीर पसीने से लथ-पथ हो गया। उसकी चिल्लाहट से प्रलयकारी स्वर हुआ। पृथ्वी डगमगाने लगी। तारे हिलने लगे। पूतना के स्तन में ऐसी पीड़ा हुई कि वह अपने को छिपा न सकी और एक भयंकर राक्षसी के रूप में प्रकट हो गई। वह धड़ाम से गिरी। गिरते-गिरते छः कोस के वृक्षों को उसने कुचल डाला। आवाज सुन कर गोपी-गवाल इकट्ठा हो गये तो देखा कि पूतना धराशायी है और भगवान उसकी छाती पर खेल रहे हैं। इस प्रकार पूतना को मार कर उसका उद्धार भगवान ने स्वयं अपने हाथों किया।

कहा जाता है कि यह पूतना पूर्व जन्म में राजा बलि की कन्या रत्नमाला थी। राजा बलि को छलने के लिए जब वामन भगवान ने बलि की यज्ञशाला में प्रवेश किया तो उन्हें देखकर रत्नमाला के मन ही मन में लालसा हुई कि ऐसा ही बालक मुझे मिलता तो उसे दूध पिलाकर मैं प्रसन्न और धन्य होती। भगवान ने मन ही मन उसकी लालसा का अनुमोदन किया। वही इस जन्म में पूतना हुई और भगवान ने उसे स्वर्ग दिया।

(३) माखनचोरी—बालक कृष्ण तथा बलराम जब कुछ बड़े हुए तो सारे ब्रज में घूम-घूम कर खेलने लगे। उनकी लीला देख कर सभी ब्रजवासी गोपियाँ मुग्ध थीं। गोपियाँ तो घर का कार-बार छोड़ कर भगवान की लीलाएँ देखने में लग जाती थीं। कुछ ही दिनों में कृष्ण ने बालकों की अच्छी-खाही मंडली बना ली। अब माखन खाने के उपाय में रहने लगे। गोपियों के घर में घुस जाते और छींके पर से पीढा आदि रख कर माखन उतार कर खाते तथा अन्य बच्चों को भी खिलाते। और खाने के बाद मटका फोड़ देते। इस प्रकार सारी गोपियाँ परेशान हो गईं। यही नहीं, रास्ते में जब ग्वालिनें दही बेचने निकलतीं तो उनका दही छीन कर खा लेते और मटका फोड़ देते। गोपियाँ परेशान होकर माता यशोदा के पास उलाहना लेकर जातीं। यशोदा भी इस उलाहने से परेशान हो गई। एक न एक शिकायत रोज ही पहुँची रहती। गोपियाँ ऊपर से तो परेशान लगती थीं, परन्तु अन्दर से मन ही मन भगवान की इस लीला से प्रसन्न हो जातीं। इसीलिए उन्हें बार-बार छेड़ा करती थीं।

(४) उलूखल-बन्धन और यमलार्जुन उद्धार—एक दिन माता यशोदा दही मथ रही थीं। उनका स्तन वात्सल्य-दूध से छलछलाया हुआ था। इसी समय भगवान् कृष्ण भी दूध पीने के लिए आ पहुँचे। माता जी उन्हें दूध पिलाने लगीं। इसी समय उन्हें याद आया कि आग पर रखा हुआ दूध उफना कर बह रहा है। वे लाल को वहीं छोड़कर दूध देखने चली गईं। दूध ने देखा कि मेरे उठने से माता यशोदा को अपना बालकगोद से उतार कर आना पड़ा। वह वेचारा लजाकर बैठ गया। माता जी तुरन्त वापस आयीं तो देखा कि कृष्ण वहाँ नहीं है और दही का मटका चूर-चूर हो गया तथा दही फर्श पर पड़ा छिटका हुआ है। माता जी कृष्ण को खोजने लगीं। कृष्ण भगवान् नाराज होकर मटका फोड़कर एक घर में छिपकर बासी माखन खाने लगे। वे एक उलटे ऊखल पर खड़े माखन खा रहे थे तथा माखन बन्दरों को लुटा रहे थे। माँ हाथ में छड़ी लिये पहुँची। कृष्ण डरकर भगे। माँ ने पीछा किया। जब माँ ने देखा कि बालक डरकर रो रहा है तो उन्होंने छड़ी फेंक दी और कृष्ण को पकड़कर घर ले आयीं। उन्हें एक रस्सी लेकर उसी ऊखल में बाँधने लगीं। रस्सी दो अंगुल छोटी पड़ गई। दूसरी रस्सी जोड़ी तो वह भी दो अंगुल छोटी पड़ गई। तीसरी जोड़ी तो वह भी छोटी पड़ गई। इस प्रकार माँ ने घर भर की सारी रस्सियाँ जोड़ डालीं, किन्तु अन्त में सभी दो अंगुल छोटी ही पड़ गईं। माँ परेशान हो गईं। पसीने से लथ-पथ हो गईं। जब भगवान् ने देखा कि माँ ने बाँधने की जिद कर ली है तथा यदि भक्त मुझे बाँधने में ही आनन्द पा रहा है तो बँध जाना ही अच्छा है। इसलिए तुरन्त बँध गए। भगवान् तो भक्त जिसमें प्रसन्न रहे, वही करना चाहते हैं। इसी समय ऊखल से बँधे हुए भगवान् को उन यमलार्जुन वृक्षों का ध्यान आया और उन्हें तारने के लिए भगवान् ऊखल को घिसराते हुए उन दोनों पेड़ों की ओर बढ़े। भगवान् तो दोनों पेड़ के बीच से आगे निकल गए और ऊखल पेड़ों से अटक गया। श्री कृष्णजी की कमर में रस्सी तो बँधी ही थी, ज्यों ही तनिक जोर से खींचा, दोनों पेड़ों की जड़ें उखड़ गईं और पेड़ धड़ाम से गिर पड़े। उन दोनों पेड़ों से दो तेजस्वी पुरुष निकले और भगवान् के चरणों पर गिर पड़े।

कहते हैं कि ये दोनों पुरुष नलकूवर और माणिकीव नाम के धन देवता कुवेर के दो पुत्र थे। एक दिन ये अप्सराओं के साथ नंगे होकर सरोवर में स्नान कर रहे थे। उसी समय नारद जी आ पहुँचे। अप्सराओं ने तो कपड़ा पहन लिया, पर इन दोनों यक्षों ने तनिक भी परवाह न की। इस पर नारद जी ने शाप दिया कि तुम दोनों वृद्ध हो ब्रज में होगे और भगवान् कृष्ण द्वारा तुम्हारा उद्धार होगा। वही दोनों वृद्ध यमलार्जुन नाम से ब्रज में प्रसिद्ध थे, जिन्हें भगवान् ने उलूखल से बन्धाकर गिराया और शापमुक्त किया। इसी प्रकार बाल-लीला के वहाने से ही भगवान् कृष्ण ने वत्सासुर, वकासुर, अघासुर आदि का वध तथा उद्धार किया। नाना प्रकार की अद्भुत लीला से ब्रजवासियों को चकित, प्रसन्न और धन्य करते रहे।

(५) ब्रह्मा का मोह—तमाम असुरों के नाश की लीला को देखकर ब्रह्माजी को भगवान् की अन्य अद्भुत लीला देखने की इच्छा हुई। एक दिन सभी ग्वाल-वाल बलराम और कृष्ण के साथ गौओं को जंगल में भेजकर खेतों में मस्त हो गए। इसी समय ब्रह्मा ने अपनी माया से सभी गाय-बछड़ों को हर लिया। बच्चे खेलते ही थे। कृष्ण और बलराम गौओं को देखने और झाँकने निकले। भगवान् ने ब्रह्माजी की करतूत को समझ लिया। इधर कृष्ण के चले जाने पर ब्रह्माजी ने ग्वाल-वालों को भी हर लिया। कृष्ण भगवान् ब्रह्मा की मोह-माया को समझ गए। उन्होंने स्वयं गाय, बछड़ों, ग्वाल-वालों का रूप धारण कर लिया और शाम को ब्रज में सभी ग्वाल-वाल अपनी-अपनी गौएँ लेकर वापस गये। इस प्रकार भगवान् ने अपनी माया और शक्ति के बल पर ब्रजवासियों को हर्षित किया। एक वर्ष बीतने ही वाला था कि एक दिन ब्रह्माजी ब्रज लौटे तो आश्चर्यचकित हो देखा कि सभी ग्वाल-वाल अपनी-अपनी गौएँ चरा रहे थे। उन्होंने सोचा कि सभी ग्वाल-वाल तो मेरी माया से अचेत पड़े हैं और उन्हीं के रूपधारी ये सब ग्वाल-वाल तथा गौएँ कैसे बच गईं। तब उन्हें कृष्ण भगवान् की लीला तथा अपनी करतूत पर बड़ा आश्चर्य हुआ। हार मानकर भगवान् की स्तुति करने लगे और भगवान् ने भी उनके मोह दूर कर दिया।

(६) कालिया नाग पर कृपा—ब्रज प्रदेश में यमुनाजी में एक कुल

था, जिसमें एक नाग रहता था। सर्प के विष से वहाँ का पानी हमेशा खौला करता था। पानी इतना विषैला हो गया था कि किनारे के आस-पास के पेड़ आदि तक सूख गये थे। जो भी वह जल पी लेता अथवा स्पर्श तक कर लेता, वही मर जाता था। इस कुण्ड का नाम कालियदह था। इस कालियदह से सारे प्रदेश में आतंक फैल गया था। यहाँ तक कि उसके ऊपर से पक्षी तक न उड़ सकते थे। कोई प्राणी उसके निकट न जाता था।

एक दिन श्रीकृष्णजी अन्य ग्वाल-बालों के साथ उसी के निकट गेंद खेल रहे थे। खेल-खेल ही में बाल-कृष्ण ने गेंद को जान-बूझकर यमुना-दह की ओर मार दिया और गेंद उसी कुण्ड में जा गिरा। सभी ग्वाल-बाल कृष्ण पर बिगड़ गये। भगड़ा होने लगा। सब लड़के एक ओर कृष्ण अकेले एक ओर। व्यंग्य और ताने चलने लगे। खीझकर भगवान कृष्ण दह की ओर दौड़े और यमुना में गेंद निकालने के लिए कूद ही तो पड़े। यह देख सभी ग्वाल दंग हो गये और पल्लताने लगे। यह खबर नन्द बाबा के घर तथा पूरे गोकुल भर में फैल गई। सभी व्याकुल हो जमुना की ओर दौड़ पड़े। नन्द और यशोदा तो प्राण तक देने को तैयार हो गये।

इधर कृष्ण दह में कूद कर सीधे नाग के पास पहुँचे। नाग ने क्रोध से कई स्थानों पर कृष्ण को काटा तथा अपने शरीर से कृष्ण को कसकर जकड़ लिया। इसी समय भगवान कृष्ण ने विराट रूप धारण किया और नाग का अंग-अंग टूटने लगा। कृष्ण के चरणों की चोट से नाग का फण खून से लथ-पथ होने लगा। नागपत्नियों ने जान लिया कि यह कोई देवता ही है। नाग ने भी समझा कि यह तो साक्षात् भगवान ही हैं। नाग-पत्नियों की प्रार्थना से कृष्ण ने नाग पर कृपा की। थोड़ी देर में नाग की फण पर मुरली बजाते हुए कृष्ण जल के ऊपर आये। स्वयं बाहर आ गये और नाग को नागलोक भेज दिया और यह वरदान दिया कि जिन गरुड़ के भय से वह इस दह में रह रहा था, अब वह गरुड़ उसे न खा सकेंगे।

कालिय नाग गरुड़ के भय से इस-दह में रहा करता था। पुराणों में यह कथा इस प्रकार है। कद्रू और विनता दो बहनें थीं। दोनों ब्रह्मा के पुत्र कश्यप-ऋषि की पत्नियाँ थीं। कद्रू के एक हजार नागपुत्र शेष और कालिय

आदि थे। विनता के केवल दो पुत्र गरुड़ और अरुण थे। एक बार कद्रू और विनता दोनों बहिनों में होड़ लगी। विनता हार गई। जिसके फलस्वरूप उसे कद्रू की दासी बनकर रहना पड़ा।

विनता के पुत्र गरुड़ ने साँपों के लिए अमृत लाने की सेवा द्वारा अपनी माँ को इस दासता से मुक्त किया था। और अमृत भी साँपों के प्रयोग में न आ सका, उसे गरुड़ की सहायता से इन्द्रदेव उठा ले गये। इसी सहायता द्वारा गरुड़ ने इन्द्र को प्रसन्न करके वरदान माँग लिया कि 'सभी नाग मेरा आहार बन जायँ, तब से गरुड़ साँपों को खाने लगे। साँपों में कालिय बड़ा घमंडी था। सभी साँप निश्चित रूप से अमावस्या को अपना परिवार गरुड़ के पास भेज दिया करते थे। जब इस कालिय की बारी आई तो वह न तो स्वयं गया और न किसी को जाने दिया। इससे गरुड़ चिढ़कर इसे मारने चले। डर से भागकर कालिय इसी यमुनाकुण्ड में रहने लगा; क्योंकि महर्षि सौभरि के शाप से गरुड़ इस दह में नहीं आ सकता था। इसीलिए कृष्ण भगवान ने कालिय पर कृपा की और गरुड़ से उसकी रक्षा की।

(७) चीरहरण—एक समय की बात है, गोपियाँ हेमन्त ऋतु के अग्रहण के महीने में कात्यायन व्रत रही थीं। व्रतोपरान्त स्नान करने के लिए यमुना-तट पहुँचीं और अपना-अपना वस्त्र ऊपर रखकर स्नान करने के लिए निश्चिन्त हो जल में धुस गईं। इधर भगवान कृष्ण भी उसी समय आ पहुँचे। गोपियाँ पानी में अञ्जली भर-भरकर कृष्ण की आराधना करने लगीं। कृष्ण ने सबकी धोतियाँ उठाकर कुतूहलवश कदम्ब के एक वृक्ष पर बैठने का उद्योग किया। गोपियों ने जल में से ही देखा कि उनके वस्त्र कगार पर नहीं हैं। दंग रह गईं और भौचक्की-सी इधर-उधर ताकने लगीं तो देखा कि भगवान कृष्ण जिनकी आराधना गोपियाँ जल में कर रही थीं, सबकी धोतियाँ और चोलियाँ लेकर कदम्ब पर मजे से बैठे हैं। जल के भीतर ही से हाथ जोड़कर अपना-अपना वस्त्र माँगने लगीं। गोपियाँ मन-ही-मन तो मुग्ध हो रहीं थीं पर ऊपर से गिड़गिड़ा रही थीं। भगवान ने कहा 'आओ, सब अपना-अपना वस्त्र पहचानकर ले जाओ।' भला आतीं कैसे, लज्जा से तो दबी हुई थीं। जितना ही गोपियाँ प्रार्थना करतीं, उतना ही कृष्ण हँसी करते

तथा एक-एक डाल ऊपर चढ़ते जाते थे। मजबूर होकर सभी गोपियाँ अपने-अपने हाथों से गुप्तांगों को छिपाती तथा बदन सिकोड़े हुए बाहर निकलीं। भगवान ने कहा 'तुम सब लोगों ने नंगे बदन जल में प्रवेश करके वरुणदेव को अप्रसन्न किया है, इसलिए हाथ जोड़कर वरुण की प्रार्थना करो, तभी मैं चीर दूँगा। क्या करतीं! वह भी करना पड़ा। इस प्रकार भगवान ने गोपियों की सारी लज्जा को दूर कर दिया। अन्त में चीर दिया और तब गोपियों के जी में जी आया।

चीर-हरण की लीला कोई पार्थिव लीला नहीं है इससे लोगों को कृष्ण पर शंका न करनी चाहिए। यह तो भगवान की साक्षात् जीव के साथ लीला है। गोपियों ने मन, कर्म और वाणी से तो अपने को भगवान 'कृष्ण' को समर्पित कर रखा था। किन्तु अभी तन का समर्पण शेष था। उनके अन्दर लोक-लज्जा अब भी बनी थी। भक्त भगवान में तब तक लीन नहीं हो सकता जब तक वह पूर्ण समर्पण न कर दे। भक्ति में लज्जा का स्थान ही क्या? यद्यपि अपने को वे कृष्ण पर न्यौछावर कर चुकी थीं, पर फिर भी निरावरण रूप से कृष्ण के सामने आने में झिझकती थीं। उनकी इसी झिझक को दूर करने के लिए भगवान ने चीर-हरण किया। उनकी साधना, उनका समर्पण पूर्ण करने के लिए आवरण को भंग करने की ही तो आवश्यकता थी। भक्त की अन्तरात्मा परमात्मा में कैसे मिल सकती है जब तक दोनों के बीच राई भर का भी आवरण है। चीर-हरण द्वारा भगवान ने यही आवरण हटाया था।

यही नहीं, भगवान ने स्त्रियों के नग्न स्नान को अनुचित समझा। शास्त्रों में नग्न स्नान वर्जित है। कृष्ण इस परम्परा को मिटाना चाहते थे। इसकी शिक्षा देने का चीर-हरण एक सुन्दर माध्यम था। इस प्रकार देखा जाता है कि चीर-हरण भगवान की दिव्य लीला थी। उस समय भगवान केवल आठ ही वर्ष के थे। आठ वर्ष के बालक के विषय में किसी इन्द्रिय-जन्य कामवासना की कल्पना करना नितान्त अनुचित है।

(८) गोवर्द्धन-धारण—एक दिन की बात है कि ब्रज के सभी ब्रजवासी नन्दबाबा के साथ इन्द्र की पूजा की तैयारी में व्यस्त थे। दूध, घी, दही, खाद्य आदि नाना प्रकार के सामान जुटाये जा रहे थे। कृष्ण ने नन्दबाबा से पूछा

तो पता चला कि इन्द्र-पूजा का उत्सव होने जा रहा है। कृष्ण ने कहा 'हम लोग आखिर इन्द्र की पूजा क्यों करें? हमें तो अपने ग्वाल-बाल, पर्वतराज गोवर्द्धन तथा गौओं की पूजा करनी चाहिए।' बात सबको जँच गई। इन्द्र की पूजा के स्थान पर गोवर्द्धन की पूजा हुई। इन्द्र को यह जानकर बड़ा ही क्रोध आया और उन्होंने मेघों को आज्ञा दी कि प्रलयकारी वर्षा हो तथा आँधी चले और ओले गिरें। ताकि समूचा ब्रज बह जाय। फिर क्या था, वर्षा प्रारम्भ हो गई। सारे ब्रज में जल, ओले और कठिन सर्दों से त्राहि-त्राहि मच गया। वर्षा बन्द नहीं हुई। सभी ब्रजवासी कृष्ण के पास पहुँचे और अपना दुःख सुनाया। कृष्ण अन्तर्यामी थे इन्द्र का क्रोध समझ गये और बात की बात में समूचा गोवर्द्धन पर्वत उखाड़ लिया और समस्त ब्रजवासियों ने कहा कि अपने-अपने पशुओं सहित गोवर्द्धन के गड्ढे में आकर बैठ जायें। कृष्ण ने पर्वत अपनी अँगुलियों पर उसी प्रकार उठा लिया जैसे कोई छाता लिये हो और उसका कुछ वजन न मालूम हो। सात दिन तक मूसलाधार वर्षा हुई, परन्तु ब्रजवासियों का बाल तक बाँका न हुआ। इन्द्र यह देखकर बड़ा लज्जित हुए और वर्षा बन्द कर दी। और भगवान के सामने नतमस्तक हो स्तुति करने लगे। सच है, भगवान की लीला अपरम्पार है।

(६) रासलीला—शरद-पूर्णिमा का दिन था। दूधिया चाँदनी ने सारा ब्रज डूब रहा था। वातावरण में उत्साह छाया था। इसी समय ब्रज-वन के कदम्बों के बीच से मुरली की मधुर सुरीली आवाज आने लगी। मुरली की तान सुनकर सभी नरनारी, बालवृद्ध, पशु-पक्षी एवं दिशा-मुग्ध हो गईं।

चीर-हरण के दिन गोपियों की अन्तरात्मा की मूक पुकार को साधक करने के लिए भगवान ने अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमाया के सहित गोपियों के साथ रास-क्रीड़ा करने का संकल्प किया था। अमना होने पर भी भगवान ने प्रेमियों की इच्छा पूर्ण करने का व्रत लिया था। इन्द्र हेतु आज भगवान की अलौकिक मधुर मुरली बज रही थी। सुरीली तान कान में पड़ते ही गोपियों ने अपना-अपना कार्य बन्द कर दिया। जो जिस काम में थीं, वे वहीं वैसे ही उस काम को छोड़कर भागने लगीं।

अपने पति, पुत्रों, सास-ससुर, हित-मित्र सबको छोड़कर तान की ओर चल पड़ीं। किसी के रोकने पर भी न मान सकीं। जो गोपियाँ किसी अपरिहार्य कारणवश न जा सकीं, वे घर में ही आँखें मूँदकर कृष्ण के ध्यान में मग्न हो गईं।

इस प्रकार भगवान के प्रेम-रूप-रंग में अपने को त्याग देनेवाली गोपियाँ कृष्ण के पास पहुँचीं। रासलीला प्रारम्भ हो गई। भगवान कृष्ण गोपियों के साथ उनके मर्मस्थलों का स्पर्श करते हुए केलि करने लगे। गोपियाँ तो आनन्द के सागर में डूबकर अपने को भूल गईं और भगवान में लीन हो गईं। उस समय प्रत्येक गोपी यही सोचती थी कि मेरे भाग्य के सामने किसी का भाग्य नहीं। इस प्रकार सभी गोपियाँ अपने-अपने भाग्य के गर्व में आ गईं। भगवान से भक्त का यह मान न देखा गया और उन्होंने इस मान को भंग करना चाहा। तुरन्त अन्तर्धान हो गये। अब क्या था। मानसिक हाहाकार मच गया। सभी गोपियाँ जो मान किये वैठी थीं, अब व्याकुल होने लगीं। गोपियाँ लगीं विरह में पागल होने।

भगवान ने जब देखा कि गोपियों की विरह-वेदना असह्य हो रही है और मानभंग हो गया तो पुनः प्रकट हो आये। तब तो मानो गोपियों में फिर से जान आई। पुनः विहार प्रारम्भ हो गया। किन्तु इस समय कृष्ण किसी एक गोपी के साथ विहार करते तो दूसरी ताकने लगती और आकुल होने लगती। इसे देखकर कृष्ण ने जितनी सहस्रों गोपियाँ थीं, उतने ही रूप अपने भी बना लिये, जिससे हर गोपिका यही समझती थी कि कृष्ण तो हमारे ही पास हैं। इस प्रकार आनन्द-केलि होने लगी। कृष्ण गोपियों का हाथ पकड़कर नाचने तथा उनके अंग-संग में मिलकर विहार करने लगे। इस प्रकार तन, मन, वाणी, कर्म आदि से गोपीरूप आत्माएँ उस विश्वात्मा परमब्रह्म में लीन हो गईं। आत्मारूपी गोपियों की युगान्तर की लालसा पूर्ण हुई। यही महारास का उद्देश्य था।

इस रासलीला पर किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए क्योंकि भगवान की आत्मा के साथ यह दिव्य लीला थी। वे गोपियाँ अहीर की बहू-बेटियाँ नहीं थीं बल्कि साधक की साक्षात् आत्माएँ थीं। जब गोपियाँ

घर से आने लगी थीं तो गोपों ने उन्हें रोका। भगवान ने गोपियों की लज्जा रखने के लिए लौकिक गोपियों को अपनी माया से रचकर गोपों के साथ छोड़ दिया। यहाँ रास भी हो रहा था और गोपियाँ गोपों की दृष्टि में उनके घरों में भी मौजूद थीं। किसी को अनुभव न था कि गोपियाँ बाहर गई हैं। इससे यह स्पष्ट है कि यह लौकिक लीला न होकर आत्मा और परमात्मा की दिव्य अलौकिक लीला मात्र की। भगवान भक्त की हर लालसा पूरी करना चाहते हैं।

भगीरथ

भगीरथ का नाम भारतीय जनता की जवान पर रहता है। भगीरथ अपने कठिन प्रयत्न के लिए दिख्यात हो चुके हैं, इसीलिए 'भगीरथ प्रयत्न' एक मुहाविरा भी बन चुका है। कहते हैं कि गंगा जी को भूलोक पर लाने का श्रेय भगीरथ को ही है। वह कथा इस प्रकार भागवत में आई है।

एक समय की बात है कि राजा सगर अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे। इन्द्र ने यज्ञ का घोड़ा चुराकर छल से पाताल-लोक में ले जाकर कपिल मुनि के आश्रम पर बाँध दिया। सगर के साठ हजार पुत्र थे। वे सभी घोड़े को ढूँढ़ते हुए पृथ्वी खोदकर पाताल-लोक में कपिल मुनि के आश्रम पर पहुँचे। मुनि समाधि में लीन थे। सगर-पुत्रों ने बहुत भला-बुरा कहा। उनकी समाधि तो खुल गई पर उनके नेत्रों की अग्नि से ये हजारों पुत्र भस्म हो गये। इसके पश्चात् सगर का नाती अंशुमान घोड़े तथा अपने चाचाओं की तलाश में निकला। वह भी कपिल मुनि के आश्रम पर पहुँचा। मुनि के आश्रम पर घोड़ा बाँधा देखकर उसने मुनि की काफी स्तुति की। मुनि प्रसन्न हुए उसे घोड़ा वापस किया और उसके चाचाओं को जिलाने के लिए उपाय बताये कि यदि गंगाजी भूलोक पर आ जायँ तो उनके जल-स्पर्श से ही ये सारे पुत्र जीवित हो सकते हैं।

अंशुमान ने मुनि के उपाय को सिद्ध करने के लिए जीवन भर तप किया पर गंगाजी न आ सकीं। अंशुमान के बाद उनके पुत्र दिलीप ने भी उसी प्रकार तप किया, फिर भी गंगाजी भूलोक में न आईं। दिलीप के बेटे यही भगीरथ। अब भगीरथ ने भी तप करना प्रारंभ कर दिया। वायु पीकर एक पैर पर खड़े रहकर तथा निर्जल व्रत करके भगीरथ ने काफी समय

तपस्या की। अन्त में गंगाजी प्रसन्न हुई और कहा—‘वर माँगो’ भगीरथ ने माँगा कि—‘माताजी, आप भूलोक में चलीं।’ इसपर गंगाजी ने कहा—‘मर्त्यलोक में कोई मेरा वेग सँभालनेवाला होना चाहिए, अन्यथा मैं पृथ्वी फाड़कर पाताल-लोक चली जाऊँगी!’ भगीरथ बड़े धर्म-संकट में पड़ गये। सोचने पर सूझा कि शंकर भगवान तो गंगाजी को सँभालने में समर्थ ही हैं। अब भगीरथ ने शंकरजी की भी उसी प्रकार तपस्या करनी प्रारंभ की, जैसे गंगाजी की थी। शंकरजी प्रसन्न हुए और भगीरथ की प्रार्थना स्वीकार की।

इसके पश्चात् गंगाजी मर्त्यलोक आने को तैयार हुई। आगे-आगे भगीरथ का रथ चलता था, पीछे-पीछे वेग से गंगाजी चली आ रही थीं। इस प्रकार गंगासागर-संगम पर आकर भस्मीभूत सगर-पुत्रों को अपने जल में डुबो दिया। गंगाजल-स्पर्श करते ही साठों हजार पुत्र स्वर्गधाम को चले गये। तब से गंगाजी इस पृथ्वी पर बहने लगीं। इसका श्रेय भगीरथ को ही है। इसीलिए भगीरथ अपने कठिन व्रत और परिश्रम के लिए प्रख्यात हो गये।

भीष्म

भीष्म अपनी कठिन प्रतिज्ञा के लिए महाभारत में प्रसिद्ध हो चुके हैं। आज भी कठिन प्रतिज्ञा को भीष्म-प्रतिज्ञा के नाम से पुकारा जाता है। भीष्म पाण्डवों के ही कुल के थे तथा शन्तनु के पुत्र थे। उन्होंने आजन्म ब्रह्मचारी रहने का प्रण किया था और उसे पूर्णरूप से निभाया भी। कहा जाता है कि भीष्म शापवश मनुष्य-योनि में उत्पन्न हुए थे। पूर्व जन्ममें वे देवलोक के द्यु नामक वसु थे। महाभारत आदि पर्व में यह प्रसंग इस प्रकार आया है।

एक समय की बात है कि देवलोकवासी द्यु नाम के वसु अपनी पत्नी सहित वशिष्ठ मुनि के आश्रम पर पहुँचे और अपनी पत्नी के कहने से कामधेनु को मुनि के आश्रम से हर ले गये। इनके साथ सात वसु और थे। इस पर मुनि ने आठों वसुओं को शाप दिया कि ‘तुम लोगों ने मनुष्यों जैसा अधर्म किया है, इसलिए मनुष्य-लोक में जन्म लेना पड़ेगा। सात वसुओं का शाप तो जन्म लेते ही समाप्त होता गया, परन्तु द्यु को जिन्होंने चोरी की थी, पूरा

जन्मभर मृत्यु लोक में रहना पड़ा। वही द्यु शन्तनु के पुत्ररूप से पैदा हुए थे जो भीष्म कहलाये। मुनि का शाप पाकर आठों वसुओं ने गंगाजी से प्रार्थना की कि 'हमें मृत्युलोक में चलकर अपने गर्भ से पैदा करो।' गंगाजी ने प्रार्थना स्वीकार की। गंगाजी को भी शाप था कि उन्हें कुछ समय के लिए मृत्युलोक में स्त्रीरूप से रहना पड़ेगा। इस प्रकार गंगाजी ने शन्तनु राजा को आकर्षित किया और प्रतिज्ञापूर्वक उनसे विवाह किया। प्रतिज्ञा यह थी कि जो भी गंगाजी करें, उसे शन्तनु न तो रोके और न उसका कारण पूछे। शन्तनु और गंगा का विवाह हुआ और आठ पुत्र पैदा हुए। सातों को तो गंगा ने जन्मते ही गंगाजी की धारा में डुबो दिया और शन्तनु प्रतिज्ञा के फलस्वरूप चुप रहे। जब आठवाँ पुत्र हुआ तो शन्तनु से न रहा गया। उन्होंने कहा— 'सात पुत्र जा चुके हैं अब इस आठवें को तो रहने दो।' गंगाजी ने बात मान ली और वह पुत्र जन्मते ही गंगाजी ने शन्तनु को सौंप दिया, किन्तु साथ ही यह भी कह दिया कि इसका वंश इस पृथ्वी पर न चलेगा। यह आठवें पुत्र भीष्म ही थे।

पुत्र को पाकर शन्तनु प्रसन्न हुए और उसका नाम देवव्रत रखा। एक दिन राजा शिकार खेलने गये और गंगातट पर सत्यवती नाम की दाशराज की कन्या पर मोहित हो गये। घर आये तो मन बड़ा उदास और विवक्षित-सा था। देवव्रत ने इसका कारण पूछा तो राजा ने पूरा वृत्तान्त सुनाया। पिताजी का दुःख दूर करने के लिए देवव्रत सत्यवती को लाने चल दिये। वहाँ जाकर दाशराज से उन्होंने सत्यवती को अपने पिता के लिए माँगा। दाशराज ने कहा— 'मैं अपनी कन्या तभी दूँगा, जब यह निश्चय किया जाय कि राजगद्दी उसी की सन्तान को मिले।' भीष्म ने कहा— 'ठीक है, मैं राज्य न लूँगा और इस प्रकार तुम्हारी कन्या की ही सन्तान को गद्दी मिलेगी।' दाशराज को अब भी सन्तोष न हुआ। उसने फिर प्रतिवाद किया— 'ठीक है, आप तो राज्य न लेंगे, पर हो सकता है आपके लड़के न मानें। इसलिए अब भी हमें सन्देह है।' बात उचित और सम्भव ही थी। इस पर भीष्म ने कहा— 'अच्छा, हम आजीवन विवाह ही न करेंगे। अब तो तुम्हें सन्तोष है?' दाशराज बहुत प्रसन्न हुआ और अपनी कन्या शन्तनु को

व्याह दी। देवव्रत की इस कठिन प्रतिज्ञा को सुनकर देवताओं ने पुष्पवर्षा की और उनका नाम भीष्म रख दिया। तब से उनका नाम भीष्म पड़ा।

शन्तनु और सत्यवती से दो पुत्र चित्रांगद और विचित्रवीर्य पैदा हुए। विचित्रवीर्य राजा हुए। भीष्म ने ही काशिराज की कन्या अम्बिका और अम्बाला को हरकर विचित्रवीर्य की रानी बनाया। विचित्रवीर्य के कोई सन्तान न हुई। तो सत्यवती के अनुरोध से नियोग द्वारा व्यास के वीर्य से अम्बिका और अम्बाला के गर्भ से धृतराष्ट्र और पाण्डु दो पुत्र पैदा किये गये। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र हुए जो कौरव कहलाये, तथा पाण्डु के पाँच पुत्र हुए जो पाण्डव कहलाये। इस प्रकार भीष्म कौरवों और पाण्डवों के पितामह हुए। तभी उनका नाम भीष्म-पितामह पड़ा। भीष्म प्रण के पत्रके तथा मानवोत्तर शक्तिवाले व्यक्ति हुए। एक समय वंश चलाने के लिए सत्यवती ने भीष्म से कहा कि विचित्रवीर्य की स्त्रियों से पुत्र पैदा करो। भीष्म ने साफ इनकार कर दिया, क्योंकि उन्होंने तो आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने का प्रण किया था।

भीष्म कौरव और पाण्डवों को बराबर ही समझते थे। बल्कि पाण्डवों से विशेष प्रेम रखते थे। उन्होंने बार-बार दुर्योधन को युद्ध करने से रोका था, पर दुर्योधन ने एक न सुनी। दुर्योधन का नमक खाने के नाते भीष्म को दुर्योधन की ओर से युद्ध करना पड़ा, पर उन्होंने यह प्रण किया था कि वह पाण्डवों को न मारेंगे और पाण्डवों की सेना के दस हजार सैनिक नित्य मारेंगे। भीष्म बड़े बली थे, उन्हें मात देना असम्भव था। यह देख युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण आदि स्वयं उन्हीं से उनके मरने का उपाय पूछने लगे। भीष्म ने बताया कि जब तक मेरे हाथ में हथियार है, तब तक कोई मुझे हरा नहीं सकता। पर मैं स्त्री पर, स्त्री के समान नामधारी पर, निहत्थे पर, एक ही सन्तानवाले पर, भगे हुए आदि पर हथियार न उठाऊँगा। अर्जुन की सेना में एक शिखंडी है, वह पहले स्त्री था, बाद में पुरुष हो गया। यदि उसे हमारे आगे कर दिया जाय तो मैं हथियार रख दूँगा और उसके पीछे से अर्जुन मुझ पर प्रहार करें तो मैं हार सकता हूँ।' इस प्रकार पाण्डवों ने वैसा ही किया। भीष्म अर्जुन के बाणों से बिंध गये।

भीष्म को अपनी इच्छा से मरने का बरदान था। इसीलिए बाणों से

विंधकर टँग जाने पर भी वे मर न सके। उस समय सूर्य दक्षिणायन थे और भीष्म उत्तरायण होने पर ही मरना चाहते थे। इसलिए जब तक सूर्य उत्तरायण नहीं हुए, तब तक वे बाणों की शैय्या पर पड़े रहे। उत्तरायण आने पर अपनी इच्छा से मरे।

भीष्म सच्चे कृष्णभक्त भी थे। एक समय भीष्म ने प्रण किया कि यदि कृष्ण से अस्त्र न उठवा लूँ, तो शन्तनु-सुत न कहाऊँ। कृष्ण ने भी प्रारम्भ में ही प्रण किया था कि अस्त्र न उठायेंगे। निहत्थे रथ हाँकेंगे। भीष्म का यह प्रण देखकर भगवान बड़े धर्मसंकट में पड़े, क्योंकि भक्त की लाज रखना ही भगवान अपना कर्तव्य मानते थे। आखिर भक्त की लाज रखने के लिए कृष्ण रथ का पहिया उठाकर दौड़ ही पड़े। इधर भीष्म ने यह देख हथियार रख दिया, जिससे भगवान को प्रहार भी न करना पड़ा और भक्त तथा भगवान दोनों का प्रण भी निभ गया। यह था भीष्म का उदात्त चरित्र।

भृगु

भृगु ब्रह्माजी के पुत्र हैं। उन्होंने त्रिदेव-परीक्षा के संबंध में भगवान के सीने पर लात मारा है। यह कथा किंवदन्ती बन गई है कि भृगु ने भगवान को लात मारा और भगवान ने प्रसन्नता प्रकट की और भृगु पर कृपा ही की।

एक समय की बात है कि ऋषि-महर्षि सरस्वती नदी के तट पर इकट्ठा होकर यज्ञ कर रहे थे। अब यह प्रश्न उठा कि तीन देवों—ब्रह्मा, विष्णु और महेश में से कौन बड़ा है और किसकी पूजा पहले की जाय। इसी विषय पर विवाद चल पड़ा। कोई निर्णय न हो सका। तब महर्षियों ने ब्रह्मा के पुत्र भृगु को तीनों देवों की परीक्षा लेने के लिए भेजा।

सबसे पहले भृगुजी ब्रह्माजी के ही पास पहुँचे। पहुँचकर भृगु ने ब्रह्माजी को न तो नमस्कार किया और न उनकी स्तुति ही की। यह देखकर ब्रह्माजी बड़े क्रोधित हुए। किन्तु किसी प्रकार क्रोध को छिपा लिया। इसके पश्चात् भृगुजी कैलाश पर्वत पर शंकरजी के आश्रम पर पहुँचे। शंकरजी भृगु अर्थात् अपने भाई को आया देखकर दोनों हाथ फैलाकर आलिङ्गन करने के लिए बड़े किन्तु भृगु ने आलिङ्गन स्वीकार करने से इनकार कर दिया। अब तो

शंकरजी के क्रोध का ठिकाना न रहा और त्रिशूल उठाकर भृगु को मारने दौड़े। किन्तु सतीजी ने रोक लिया। दोनों देवों की परीक्षा लेकर भृगु क्षीर-सागर-भगवान के निवास-स्थान में पहुँचे। वहाँ देखा कि भगवान लक्ष्मीजी की गोद में सिर रखे हुए लेटे हैं। पहुँचते ही भृगु ने कसकर भगवान के सीने में लात मारा। भगवान औचकाकर उठे और भृगु का पैर पकड़कर सहलाने लगे और बोले—‘महामुने, आपके कोमल चरणों में चोट तो नहीं आई? बड़ा भाग्य है मेरा, जो आपका पदार्पण हुआ। मुझे आपके आगमन की कोई पूर्वसूचना न थी इसलिए आपकी अगवानी न कर सका। इसके लिए मुझे क्षमा करें।’ भगवान की यह मधुर वाणी सुनकर भृगु परम तृप्त हुए और माना कि विष्णु ही सबसे बड़े हैं। तब से भगवान के वत्सःस्थल पर भृगु का लात अंकित है।

मत्स्यावतार

महाराज विवस्वान् ब्रह्मा के पुत्र वैवस्वत् मनु कहलाये। वैवस्वत् मनु बड़े धर्मात्मा और प्रतापी महर्षि थे। एक दिन मनु महाराज चीरिणी नाम की नदी में स्नान-तर्पणादि कर रहे थे। उसी समय एक छोटी सी मछली उनके सामने आई और विनीत तथा भयभीत वाणी में बोली—‘महर्षि, आप धर्मज्ञ हैं। यह सदा का नियम है कि बड़ी मछली प्रायः छोटी मछलियों को खा जाती है। इसलिए मैं अत्यन्त भयभीत हूँ। कृपा करके मुझे बचाइये।’ मनु को उसकी वाणी सुनकर बड़ी दया आ गई और उन्होंने उस छोटे से मच्छ को उठाकर एक सुन्दर मिट्टी के घड़े में पानी भरकर डाल दिया। वह मछली मनु की देख-रेख में बढ़ने लगी। मनु उसे अपने पुत्र से भी अधिक मानते थे।

थोड़े ही दिनों बाद मनु ने देखा कि वह मच्छ इतना बढ़ गया है कि उस घड़े में रहना असम्भव हो गया। मच्छ ने पुनः मनु महाराज से कहा—‘मेरे लिए कोई दूसरा स्थान ठीक कीजिये, अब मेरा शरीर बढ़ गया है और इस घड़े में मुझे कष्ट है।’ मनु ने उस मच्छ को उस अलिंजर से निकाल लिया और दो योजन लम्बे और एक योजन चौड़े एक सरोवर में डाल दिया। वह मच्छ वर्षों तक उस जलाशय में बढ़ता रहा। अन्त में फिर इतना बढ़ा हो गया कि उस जलाशय में रहना उसके लिए असम्भव हो गया। जब मनु उसे देखने गये तो वह बोला—‘भगवन्! अब आप मुझे समुद्र में डाल दीजिये या कोई

अन्य स्थान तलाश कीजिये । मेरा शरीर इतना बढ़ गया है कि अब मैं इस जलाशय में घूम नहीं सकता ।' मनु ने पुनः उसे उसमें से निकाल और गंगाजी में डाल दिया ।

गंगा में पड़कर अब मच्छ सुखपूर्वक रहने लगा । कुछ ही दिनों बाद मनु महाराज फिर उसे देखने गए । तो उस मच्छ ने विनीत भाव से कहा— 'भगवन् ! मैं फिर इतना बढ़ गया हूँ कि गंगाजी में भी ठीक से घूम-फिर नहीं पा रहा हूँ । मुझे कष्ट है । कृपया मुझे अब अवश्य समुद्र में डाल दीजिये ।' मनु महाराज को उसकी आर्त वाणी पर दया आ गई । उन्होंने उसे बड़ी सरलता से उठा लिया । यद्यपि मच्छ अत्यन्त बड़ा हो गया था, फिर भी मनु के छूने पर काफी हल्का हो जाता था । मनु ने उसे उठाया और इस बार सीधे समुद्र तक उसे लिए चले गये और समुद्र में उसे डाल दिया ।

समुद्र में पड़ते ही मच्छ ने मुसकराकर कहा— 'भगवन् ! आपकी ही कृपा से मैं इतना बड़ा हुआ हूँ । मैं आपके उन उपकारों का अत्यन्त आभारी हूँ । इसलिए मैं आपका बड़ा उपकार करूँगा । आप ध्यान से मेरी बात सुनिये ।

मच्छ ने कहा— 'एक समय ऐसा आयेगा कि सारी पृथ्वी जलमय हो जायगी । हर चार युग के बाद प्रलय होता है । प्रलय-काल में जब चारों ओर पानी ही पानी हो जायगा, तब मैं आपकी सहायता करूँगा । मैं आपको सलाह देता हूँ कि आप एक बड़ा नाव बनवा रखिये तथा एक मजबूत रस्सी भी बंध रखिये । प्रलय का वह समय बहुत निकट आ गया है । शीघ्र ही सब पदार्थों का नाश होनेवाला है । आप सप्तर्षियों के साथ उसी नाव पर बैठकर प्रलय-कालीन जल में मेरा इन्तजार कीजियेगा । आप प्रत्येक विभाग के बीजों को भी यत्न से उसी नाव पर रख लीजियेगा और हर प्रकार से उनकी रक्षा कीजियेगा । मेरी राह देखना; मैं मौके पर आपकी सहायता करने अवश्य आऊँगा । मेरा शरीर पर्वत के समान विशाल होगा और मेरे मस्तक पर एक सींग होगा । यही मेरी पहचान होगी । आप मेरी बातों में तनिक भी सन्देह न कीजियेगा ।' इस प्रकार मच्छराज की भविष्यवाणी सुनकर मनु बहुत प्रसन्न हुए और कहा— 'मैं वैसा ही करूँगा और इसके पश्चात् मनु और मीन दोनों यथा-स्थान चल दिये ।

शीघ्र ही प्रलय-काल आ गया। मनु मच्छराज के कथनानुसार सभी विभागों के वीजों और सप्तर्षियों को लेकर नाव पर चढ़ गये और उस मच्छ की राह देखने लगे। थोड़ी ही देर में मस्तक पर उच्च सींगोंवाला पर्वताकार मच्छराज समुद्र को उद्वेलित करता हुआ पहुँचा। मनु ने अपनी नाव में रस्सी को लगाकर मच्छ की सींग में बाँध दिया।

इस प्रकार उस नाव को लिये हुए मच्छराज उस समुद्र में इधर से उधर चलने लगा। समुद्र का दृश्य बड़ा ही भयानक था। चारों ओर जल के अतिरिक्त और कुछ दिखाई न देता था। उस जलमय दृश्य में केवल नाव, मनु और सप्तर्षिगण तथा मच्छराज के अतिरिक्त और कुछ दिखाई न पड़ता था।

इस भाँति वह मच्छ लगातार अथक प्रयास करके उस नाव को कई वर्षों तक उस जल में खींचता रहा। कुछ दिनों बाद पर्वतराज हिमालय दिखाई पड़ा। मच्छ नाव को खींचे उसी पर्वत के पास गया। उसने मनु से कहा कि नाव को उसी पर्वत में बाँध दें। मनु और ऋषियों ने नाव को उसी रस्सी से हिमालय की चोटी से कसकर बाँध दिया। हिमालय की जिस चोटी से मनु की नाव बाँधी थी, वह आज तक 'नवबंधन' के नाम से प्रसिद्ध है।

इसके बाद उस अद्भुत मच्छ ने कहा—'हे मनु ! मैं प्रजापति ब्रह्मा हूँ, तुम्हें इस प्रलय के संकट से बचाने के लिए ही मैंने यह मत्स्यावतार धारण किया था। मैं ही इस ब्रह्माण्ड में श्रेष्ठ हूँ। मेरे सिवा और दूसरा कोई नहीं है। मैं ही सत्य हूँ और शेष सब कुछ असत्य है। हे मनु ! तुम देवता, असुर और मनुष्य आदि सभी चराचर जीवों की अब सृष्टि करो। तीव्र तप के बल से तुम्हें सृष्टि-रचना की कला अपने आप मालूम हो जायगी। मेरी कृपा से तुम्हें सृष्टि-रचना में किसी प्रकार का न मोह होगा और न भूल। तुम यथार्थ रूप से सृष्टि-रचना कर सकोगे।' यह कहकर मत्स्य रूपधारी ब्रह्माजी अन्तर्धान हो गये।

इधर मत्स्य भगवान का आदेश पालन करने के लिए मनु ने सृष्टि-रचना की इच्छा तो की, पर यह निश्चय न कर सके कि किस प्रकार सृष्टि करें। बुद्धि के मोहित होने पर मनु ने घोर तपस्या की और तपोबल से सिद्धि प्राप्त कर ली। इसके बाद उन्होंने विधिवत् सृष्टि आरम्भ कर दी। मत्स्य भगवान

का यह उपाख्यान मत्स्यपुराण के नाम से विख्यात है, जो व्यक्ति मनु और मत्स्य भगवान के इस चरित्र का अध्ययन अथवा श्रवण करता है, उसकी बुद्धि निर्मल होती है। मत्स्य भगवान की जय !!!

ययाति

महाराजा ययाति पुरुवंशी क्षत्रिय राजा थे। ये इन्द्रपद प्राप्त करनेवाले नहुष के पुत्र थे। एक दिन राजा ययाति जंगल में शिकार करने गये। घूमते-घूमते वे एक वृक्ष के नीचे पहुँचे। उसके नीचे एक कुआँ था, उसमें जल नहीं था। जब राजा ने उस कुएँ में झाँका तो देखा कि एक परम सुन्दरी कन्या कुएँ में तड़प रही है। उस कन्या ने राजा से प्रार्थना की कि उसे बाहर निकाल दें। राजा को दया आ गई। राजा ने उस कन्या का दाहिना हाथ पकड़कर बाहर निकाला और उसका परिचय पूछा। उसने रो-रोकर उत्तर दिया, 'राजन् ! मैं दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य ब्राह्मण की बेटी हूँ। दैत्यराज वृषपर्वा की राजकुमारी शर्मिष्ठा से मेरा भगड़ा हो गया था, जिसके फलस्वरूप शर्मिष्ठा ने मुझे इस कुएँ में ढकेल दिया और तभी से मैं इस कुएँ में पड़ी हूँ।' इसके बाद राजा अपने घर चले आये और रोती हुई देवयानी शुक्राचार्य महाराज के पास पहुँची। शर्मिष्ठा और देवयानी के भगड़े का निर्णय किया गया। प्रायश्चित्त के रूप में राजपुत्री शर्मिष्ठा को गुरुपुत्री देवयानी की दासी बनकर रहना पड़ा। इस प्रकार अब देवयानी अपनी दासी शर्मिष्ठा के साथ रहने लगी।

एक दिन की बात है कि देवयानी साज-शृङ्गार के साथ शर्मिष्ठा एवं अन्य दासियों के साथ जंगल में विहार कर रही थी। उसी समय राजा ययाति फिर शिकार की खोज में संयोगवश वहाँ आ पहुँचे। गर्मी का दिन था। राजा गर्मी, प्यास और थकान से परेशान थे। देवयानी ने हर प्रकार से राजा की सेवा की। राजा जब सन्तुष्ट हुए तो पुनः उसका परिचय पूछा। देवयानी ने बताया कि 'मैं देवयानी हूँ और यह मेरी दासी शर्मिष्ठा है। आपने मुझे कुएँ से निकाला था। आपने मेरा हाथ पकड़ा है तो अब उसे छोड़ेंगे नहीं। अतएव आप मेरे पति हो चुके हैं। अब आप आश्रम पर चलिये और

विधिवत् मेरा पाणिग्रहण कीजिए ।' राजा यह बात सुनते ही दंग हो गये और बोले 'मैं क्षत्रिय और आप ब्राह्मण-कन्या । भला हमारा आपका यह संबंध कैसे सम्भव हो सकता है ?' देवयानी ने कहा 'यही होगा, मुझे कर्च का शाप है कि ब्राह्मण से मेरा विवाह नहीं हो सकता ।'

राजा ययाति देवयानी के रूप पर आसक्त तो थे ही और जब जाति की भी अड़चन दूर हो गई तो मन ही मन प्रसन्न हुए और शुक्राचार्य के आश्रम पर देवयानी के साथ गये । शुक्राचार्य ने उन्हें अपनी कन्या के सर्वथा उपयुक्त समझा और देवयानी और ययाति का विवाह कर दिया । देवयानी के साथ ही शर्मिष्ठा को भी विदा किया गया । पर शुक्राचार्य ने राजा ययाति को सचेत कर दिया था कि 'शर्मिष्ठा को अपनी सेज पर कभी न बुलाना और न उसके साथ भोग ही करना ।' राजा अपने राज्य में आये और देवयानी के साथ इच्छानुसार भोग करने लगे । उन्होंने शर्मिष्ठा के लिए अलग महल बनवा दिया और उसी में वह रहने लगी ।

शर्मिष्ठा रूप और लावण्य में देवयानी से भी सुन्दर थी । राजा शर्मिष्ठा पर भी अनुरक्त होने लगे । प्रायः उसके बगीचे में जाते और बातचीत करते थे । इधर देवयानी को राजा के वीर्य से पुत्र हुआ । देवयानी को पुत्रवती देख शर्मिष्ठा को भी पुत्र की लालसा हुई । एक दिन ऋतु-स्नान करके उसने वीर्यदान के लिए राजा से याचना की । राजा ने उसकी याचना स्वीकार कर ली । इस प्रकार शर्मिष्ठा भी पुत्रवती हुई । देवयानी के दो पुत्र हुए—यदु और तुर्वसु और शर्मिष्ठा के तीन पुत्र—द्रुह्यु, अनु और पुरु । जब देवयानी को पता चला कि राजा ने शर्मिष्ठा के भी पुत्र पैदा किये हैं तो वह अत्यन्त क्रोधित हुई और अप्रसन्न होकर पिता के घर चली गयी । राजा ययाति भी देवयानी के पीछे-पीछे शुक्राचार्य के आश्रम पर पहुँचे । देवयानी ने पूरा वृत्तान्त पिता से सुनाया । शुक्राचार्य को भी क्रोध आ गया और उन्होंने कहा—'नीच राजा, तू ने मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया है, इसलिए तुझे मैं शाप देता हूँ कि तू अभी बुढ़ा हो जा ।' राजा अत्यन्त दुखी हुए और गिड़गिड़ाकर बोले 'गुरुदेव ! अभी तो मैं देवयानी के साथ भोग करके बिलकुल ही तृप्त नहीं हुआ हूँ । आपने मेरी यह दशा कर दी । पाप के शमन का कोई उपाय कीजिये, अन्यथा मैं मर

जाऊंगा।' तब शुक्राचार्य ने कहा 'अच्छा, तुम अपने पुत्रों से, जो दे उससे, जवानी माँग लो और उसे अपना बुढ़ापा दे दो। और तृप्त हो जाने पर फिर उसे जवानी देकर बुढ़ापा वापस ले लेना।'

ययाति देवयानी के साथ वापस आये और पुत्रों से जवानी माँगने लगे। कोई तैयार न हुआ। राजा का सबसे छोटा पुत्र पुरु तैयार हुआ। उसने राजा को जवानी दे दी और स्वयं बुढ़ापा ले लिया। इस प्रकार राजा ययाति ने हजारों वर्ष तक देवयानी के साथ भोग किया और अन्त में जवानी पुरु को देकर अपना बुढ़ापा वापस ले लिया तथा संन्यास ले लिया। अन्त में वह शरीर त्याग कर ययाति स्वर्गधाम को चले गये। (विशेष विवरण के लिए इसी पुस्तक में दी हुई 'कच-देवयानी' और 'शर्मिष्ठा-देवयानी' की कथाएँ पढ़ें।)

रन्तिदेव

भरत-वंश में रन्तिदेव नाम के एक राजा हो चुके हैं। वे बड़े पुण्यात्मा, धर्मात्मा, दानी, उदार एवं परम ईश्वर-भक्त राजा थे। उन्हें बिना परिश्रम किये दैवदश जो कुछ मिल जाता, वही भोजन कर लेते। उनमें संग्रह, परिग्रह एवं ममता लेशमात्र भी न थी। उनसे जो कोई कुछ भी माँग ले, वह उसे बिना सोचे-समझे दे डालते थे। इस प्रकार दिन-प्रति-दिन उनका धन घटता चला जा रहा था।

एक बार उन्हें अड़तालीस दिन तक पानी तक न मिला। पूरा परिवार भूख-प्यास से पीड़ित हो रहा था। संयोगवश उनचासवें दिन कहीं से उन्हें खीर, हलुआ और पूड़ी आदि भोजन मिला। परिवारसहित राजा रन्तिदेव भोजन करने बैठे। ठीक इसी समय एक भिक्षुक ब्राह्मण आ पहुँचा और राजा से भोजन माँगने लगा। राजा ने उसे भोजन कराया। ब्राह्मण के तृप्त होकर चले जाने पर बचे हुए भोजन को खाने के लिए राजा पुनः बैठे। उसी समय एक दूसरा शूद्र अतिथि आ पड़ा। रन्तिदेव मनुष्यों में भी भगवान का दर्शन पाते थे। अतएव भगवान का स्मरण करके उस अतिथि को भी भोजन कराया। उसके चले जाने के बाद ही एक तीसरा व्यक्ति अपने कुत्तों को लिए हुए आ धमका। उसने भी राजा से अपने तथा कुत्तों से लिए भोजन माँगा।

अब तो राजा रन्तिदेव ने जो कुछ भी भोजन बचा था, सबका सब उसे दे दिया और अतिथि के रूप में आये हुए भगवान को नमस्कार किया। अब राजा के पास केवल मात्र जल बच रहा और वह भी केवल एक ही व्यक्ति भर को। उसे राजा आपस में बाँटकर पीना ही चाहते थे कि एक प्यासा चाण्डाल आ पहुँचा। यद्यपि राजा स्वयं प्यास की पीड़ा से मर रहे थे तथापि चाण्डाल पर दया करके उसे सब जल पिला दिया और स्वयं बहुत प्रसन्न हुए।

रन्तिदेव का यह उत्तम कार्य देखकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों देव रन्तिदेव के सामने प्रकट हो आये। आये हुए याचक एवं अतिथि भी भगवान की ही माया थे और रन्तिदेव की परीक्षा ले रहे थे। परीक्षा में राजा रन्तिदेव खरे उतरे। तभी तो तीनों देवों ने दर्शन दिया। दर्शन पाकर रन्तिदेव ने भगवन्मय होकर चरणों में नमस्कार किया और भगवान की भक्ति में लीन हो गये, पर उन्होंने भगवान से कुछ भी माँगा नहीं। उन्हें दर्शन के सिवा अन्य किसी भी वस्तु की चाह नहीं थी। यह है भारतीय राजाओं एवं भक्तों का चरित्र। प्राणिमात्र की सेवा ही भगवान की सेवा है। हमारे पुराण यही उपदेश देते हैं।

राहु

राहु एक राक्षस था। समुद्र मंथन के बाद जब अमृत निकला तो देव और दानव आपस में लड़ने लगे। यह देखकर देवों का हित करने के लिए भगवान ने मोहिनी रूप धारण किया। दानव उन्मत्त हो उठे और मोहिनी भगवान ने उन्हें सुरा दे दी और देवताओं को अलग ले जाकर अमृत पिलाने लगे। राहु ने यह चालाकी समझ ली। उसने भी देवता का रूप धारण कर लिया और देवताओं की पंक्ति में बैठ गया। यह देख सूर्य और चन्द्र देवों ने उसे पहचान लिया और चुपके से भगवान को बता दिया कि यह राक्षस है। इस पर भगवान ने अपने चक्र-सुदर्शन से उसका सिर काट दिया। सिर तो कट गया, पर वह मरा नहीं, क्योंकि अमृत पी चुका था। सूर्य और चन्द्र से वही दुश्मनी साधने के लिए राहु अमावस्या के दिन सूर्य को और पूर्णमासी के दिन चन्द्रमा को ग्रसता है, जिसे हम लोग ग्रहण कहते हैं।

रामावतार

रावण के अत्याचारों से सारी पृथ्वी एवं साधु-सन्त सभी त्रस्त हो गये। रावण साधु, ऋषियों, सज्जनों एवं देवताओं को सताता था। उसके सभी कार्य धर्म एवं सत्य-विरोधी ही थे। अब पृथ्वी से रावण का भार नहीं सहा गया। तुलसीदास ने लिखा है कि पृथ्वी ने कहा—“गिरि, सर, सिन्धु भार नहीं मोहीं, जितना गरुड एक परद्रोही।”

इस प्रकार त्रस्त होकर पृथ्वी ने गऊ का रूप धारण किया और अन्य सभी देवताओं को लेकर ब्रह्माजी के पास पहुँची। अपना और संसार का कष्ट सभी देवताओं ने ब्रह्मा से सुनाया। ब्रह्मा ने सोचा-विचारा और आदेश दिया कि चलो, हम सभी भगवान विष्णु के पास चलें, वही इस संकट को दूर कर सकते हैं। सभी देवगण भगवान विष्णु के पास पहुँचे। भगवान ने सबका कष्ट सुना और सान्त्वना दी कि “जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेशा, तुमहिं लागि धरिहैं नर वेशा।” इस प्रकार भगवान ने कहा कि “मैं अपने अंशों सहित त्रेता युग में कोशल (अयोध्या) में दशरथ के पुत्रों के रूप में जन्म लूँगा और तुम सभी देवगण ऋक्ष, वन्दर तथा अन्य जंगली जीवों के रूप में जन्म लेकर मेरी सहायता करना। उसी समय रावण का संहार होगा और पृथ्वी का भार टलेगा।

पृथ्वी और देवतागण वापस आये और उस दिन की बात जोहने लगे। त्रेता युग आया। राम ने अपने अंशों और अपनी मायासहित जन्म लिया। देवताओं ने भी भगवान की सेवा करने के लिए भालू और वन्दरों के रूप में जन्म लिया और जंगलों में रहकर भगवान भी प्रतीक्षा करने लगे। समय बीतता गया। राम बड़े हुए, विवाह हुआ और गृहस्थी में रमने लगे, राम के राज्याभिषेक का समय आया दिन निश्चित हो गया। अब तो देवगण बहुत निराश हुए और समझे कि भगवान अपने वचन तथा दुनिया के संकट को भूल गये और राज-काज में लग गये। अब तो कोई युक्ति निकालनी आवश्यक हो गयी।

राजा दशरथ के तीन रानियाँ थीं। सबसे छोटी थी कैकेयी। कैकेयी सबसे सुन्दर भी थी और राजा उसे अधिक मानते थे। कैकेयी पतिव्रता, उदार

चरित्र और धर्म परायणा स्त्री थी। वह राम को अपने स्वयं के बेटे भरत तथा अपने प्राणों से भी अधिक मानती थी। इस प्रकार दशरथजी का पारिवारिक जीवन बड़ा ही सुखमय था। कैकेयी की दासी का नाम कुवरी या मन्थरा था। रानी उसे बहुत मानती थीं।

इधर राम के राज्याभिषेक की घोषणा सारे शहर में हो गई। तैयारियाँ प्रारम्भ हो गईं। अब तो देवता लोग चक्कर में पड़ गये कि राम तो राजा बन रहे हैं। अब हम लोगों का उद्धार कैसे हो सकता है। आखिर युक्ति निकल ही आई। देवता लोगों ने विद्यादेवी सरस्वती से प्रार्थना की कि हे माता, तुम जाकर कैकेयी की मति को भ्रष्ट करो और उन्हें प्रेरित करो कि अपने वरदान की प्राप्ति में राम का वनगमन और भरत का राज्य माँगें। एक ही उपाय है राम को वन लाने का, अन्यथा अवसर हाथ से निकल जायगा। पहले तो सरस्वती का साहस न हुआ कि इस प्रकार का जघन्य कार्य करके रंग में भंग करें, पर देवताओं के अनुरोध से करना ही पड़ा।

अयोध्या आकर सरस्वती देवी ने पहले मन्थरा की मति पर कब्जा किया और उसे प्रेरित किया कि कैकेयी को चेताये कि 'राम राजा बनेंगे तो तुम्हारा पुत्र भरत कहीं का न होगा। इसलिए हे रानी, तुम अपना राजा से पाया हुआ दोनों वरदान आज ही माँग लो। एक में राम को वनवास और दूसरे में भरत को राज्य।' मन्थरा ने रानी को इस प्रकार सुझाया। इस जघन्य-नीच कर्म को तो सुनते ही रानी मन्थरा पर दूट पड़ी और बहुत खरी-खोटी सुनायी। किन्तु इधर सरस्वती जी का प्रभाव कैकेयी पर भी हो ही चुका था। काफी वाद-विवाद के बाद कैकेयी ने मन्थरा की बात मान ही ली।

अब रानी ने रंग में भंग डाल ही दिया। उसने दशरथ से दोनों वरदान माँगा और प्रतिज्ञाबद्ध धर्मात्मा दशरथ को बाध्य होकर राम को वन की आज्ञा एवं भरत को राजगद्दी की आज्ञा देनी ही पड़ी। अब क्या था। देवताओं की चाल सफल हुई और वे प्रसन्न हुये।

इधर श्री रामचन्द्रजी हनुमान, सुग्रीव, जाम्बवन्त आदि अनेक बन्दर-मालुओं की सहायता से वन में रहने लगे। देवतागण अब भी सन्तुष्ट न हुए। आखिर रावण ने राम की नकली सीता का हरण किया, क्योंकि यह लीला

करने के पहले ही असली सीता ने राम की आज्ञा से अग्नि में प्रवेश किया था। सीता की मुक्ति के बहाने राम ने रावण का वध किया। इस प्रकार पृथ्वी का भार टला। 'बोलो सियावर रामचन्द्रजी की जय।'।

रावण

रावण लंका का राजा अभिमानी और बली राक्षस था। उसने सीता का हरण किया और राम के हाथों मृत्यु को प्राप्त हुआ। इस प्रकार उसका उद्धार हुआ। रावण के जन्म और तप आदि की बड़ी विचित्र कथा पुराणों में आई है। वह इस प्रकार है।

सुमाली नाम का एक राक्षस था। एक समय वह पाताललोक से आकर मृत्युलोक में घूम रहा था। उसने देखा कि लोकपाल कुवेर अपने भव्य पुष्प विमान पर चढ़कर अपने पिता विश्रवा का दर्शन करने जा रहे हैं। उनकी भव्यता और ऐश्वर्य को देखकर सुमाली को बड़ी ईर्ष्या हुई और मन-ही-मन इच्छा करने लगा कि हमारी भी इसी प्रकार उन्नति हो। वह सोचने लगा कि यदि विश्रवा से ही हमें भी कोई सन्तान मिले तो शायद हमारी भी उन्नति कुवेर की भाँति ही हो सके। इस प्रकार सोचकर उसने अपनी सुन्दरी कन्या कैकसी को पुत्रोत्पत्ति की लालसा से विश्रवा के पास भेजा। विश्रवा मुनि उस समय यज्ञ में व्यस्त थे। कैकसी जाकर मुनि के सामने खड़ी हो गई। मुनि ने पूछने पर उसने कहा—'हे महात्मा, मैं अपने पिता की आज्ञा से आपके पास आई हूँ। आप सर्वज्ञ हैं, मेरा उद्देश्य स्वयं जान लें।' विश्रवा ने ध्यान करते-करते बात जान ली और बोले 'ठीक है, तुम पुत्र की इच्छा से यहाँ आई हो, पर यह समय तो प्रदोष-काल का है। इस समय का पुत्र तो राक्षस और कर्म करनेवाला होगा। बड़ी ठीक नहीं है।' कैकसी ने हाथ जोड़कर कहा—'भगवन् ! हम ऐसा पुत्र नहीं चाहती हैं। ऐसा उपाय कीजिये कि पुत्र सुयोग्य हो।' तब विश्रवा ने कहा—'अच्छा, तुम्हारा छोटा पुत्र धर्मात्मा होगा।'।

इस प्रकार मुनि से वरदान पाकर कैकसी ने कुछ समय बाद एक ऐसा पुत्र उत्पन्न किया, जो नीले पर्वत के आकार का था। उसका शरीर काला दाँत बड़े-बड़े, मुख बड़ा, बाल चमकीले और स्वभाव क्रूर था। उसके द

सिर और बीस भुजायें थीं। उसके जन्म लेते ही आकाश में मांसाहारी गिद्ध उड़ने लगे, शृगालिनें मुख से आग उगलने लगीं, बादलों से रुधिर की वर्षा होने लगी, सूर्य का प्रकाश मन्द पड़ गया। समुद्र खलबला उठा। वायुमण्डल में भीषण उल्कापात होने लगा। पिता विश्रवा ने इस पुत्र का नाम 'दशग्रीव' रखा। यही आगे चलकर रावण कहलाया। रावण के बाद संसार में सबसे बड़े शरीरवाले और महाबली कुम्भकर्ण का जन्म हुआ। कुम्भकर्ण के पश्चात् विकट रूपिणी शूर्पणखा उत्पन्न हुई। अन्त में, जैसा कि विश्रवा ने कैकसी को वरदान दिया था, महाधर्मात्मा और ईश्वर-भक्त विभीषण का जन्म हुआ। विभीषण के जन्म पर देवता लोग स्वर्ग से फूल बरसाने लगे। रावण और कुम्भकर्ण उसी जंगल में मदान्ध होकर ऋषियों, मुनियों को सताने और नाना प्रकार के अत्याचार करने लगे।

एक दिन माता कैकसी ने रावण से कहा—'बेटा देखो, कुबेर भी तेरा ही भाई है, वह महाप्रतापी और यशस्वी है। तू भी ऐसा उपाय कर जिससे तू भी वैसा ही बन सके।' रावण ने प्रतिज्ञा की कि—'माताजी, मैं आपकी शपथ खाकर कहता हूँ कि मैं कुबेर से भी अधिक प्रतापी बनूँगा।' इसके बाद उसी क्षण रावण कुपित होकर अपने भाइयों के साथ तपस्या करने चल दिया।

गोकर्ण आश्रम पर जाकर तीनों भाई तप करने लगे। रावण ने दस हजार वर्ष तक निराहार रहकर तपस्या की। एक हजार वर्ष बीत जाने पर रावण अपना एक सिर काटकर अग्नि में हवन कर देता। इस प्रकार नौ हजार वर्षों में उसने अपने नौ सिर बलि कर दिये। दसवें हजार वर्ष के अन्त में जैसे ही उसने अपना दसवाँ सिर भी काटना चाहा, उसी समय ब्रह्माजी प्रकट हो गये और रावण की तपस्या से प्रसन्न होकर बोले—'हे धर्मज्ञ, तुम्हारी तपस्या सफल हुई। हम तुमसे अति प्रसन्न हैं, जो चाहो, वर माँग लो।' रावण बोला 'हे देव, सभी प्राणी अमर होना चाहते हैं, इसलिए मैं भी अमर होना चाहता हूँ।' ब्रह्मा ने कहा—'सभी प्राणी अमर नहीं हो सकते, इसलिए दूसरा वर माँगो।' तब रावण फिर बोला 'हे लोकपितामह, मनुष्य को तो मैं तृण समझता हूँ, उनसे मुझे कोई डर नहीं है, इसलिए मुझे ऐसा वरदान दीजिये कि मैं गरुड़, नाग, यक्ष, दैत्य, राक्षस और देवताओं द्वारा न मारा जाऊँ।'।

ब्रह्मा ने कहा 'ऐसा ही होगा।' और ब्रह्माजी पुनः बोले—'हे दशग्रीव, मैं अपनी ओर से तुम्हें वर देता हूँ कि तुम्हारे कटे हुए नौ सिर फिर ज्यों के त्यों हो जायँ तथा जिस समय तुम जैसा रूप धारण करना चाहोगे, वैसा ही रूप तुम्हारा हो जायगा। ब्रह्मा से वर पाते ही रावण के दसों सिर फिर ज्यों के त्यों हो गये।

इसके पश्चात् ब्रह्माजी ने विभीषण से वर माँगने को कहा। विभीषण ने हाथ जोड़कर माँगा—'मैं जहाँ भी रहूँ, मेरी बुद्धि ईश्वर और धर्म में लगी रहे और बिना सीखे ही मुझे ब्रह्मान्नों का ज्ञान हो जाय।' ब्रह्माजी ने 'एवमस्तु' कहा। अब ब्रह्माजी कुम्भकर्ण को वर देने चले तो देवताओं ने हाथ जोड़कर कहा—'वस, आप इसे वर न दें। बिना वर पाये ही इसने उल्कापात मचा दिया था तो वर पाकर तो यह सारी त्रिलोकी को ही खा जायगा।' यह बात सुनकर ब्रह्माजी को भी चिन्ता हो आई, किन्तु वरदान तो देना ही था। इसलिए ब्रह्माजी ने सरस्वती को आदेश दिया कि कुम्भकर्ण की जीभ पर जाकर बैठ जाय और वह ऐसा ही वरदान कुम्भकर्ण के मुँह से निकाले, जिससे देवताओं का कल्याण हो। इस प्रकार सरस्वती की प्रेरणा से कुम्भकर्ण बोला—'हे देव, मुझे ऐसा वरदान दीजिये कि मैं अधिक दिनों तक सो सकूँ।' ब्रह्मा ने 'एवमस्तु' कहा और देवता सहित स्वलोक चले गये।

जब सुमाली अर्थात् रावणादि के नाना को यह सब समाचार मिला तो उसने रावण को गले से लगाकर कहा 'बेटा, पहले यह लंका नगरी राजसों की थी, पर विष्णु के भय से सभी राजस रसातल में चले गये हैं। अब इस नगर पर देवताओं के कोषाध्यक्ष कुवेर राज्य कर रहे हैं। इसलिए बेटा, ऐसा उपाय करो कि कुवेर से लंका को छीनकर लंका के राजा बनो और राजसों का उद्धार करो।' रावण को यह बात अच्छी न लगी, उसने कहा—'नानाजी, बड़े भाई के साथ ऐसा व्यवहार करना अन्याय है।' पर सुमाली ने नाना प्रकार से रावण की मति फेरने का प्रयास किया, आखिर उसने कहा 'अच्छा ठीक है, ऐसा ही करूँगा।'।

इसके उपरान्त रावण ने दूत भेजकर कुवेर से लंका को वापस करने को कहा। कुवेर तो धर्मात्मा थे ही, उन्होंने अपनी सम्पत्तियों सहित बसी हुई

लंका रावण को दे दी और स्वयं पिता विश्रवा के बताये हुये स्थान कैलाश पर जाकर रहने लगे ।

अब क्या था । अब रावण लंका का राजा हुआ । राजपद पाने के बाद उसे विवाह की चिन्ता हुई । सबसे पहले उसने अपनी बहन शूर्पणखा का विवाह दानवों के राजा कालका के पुत्र विद्युज्युह के साथ किया । इसके बाद अपना भी विवाह मय नाम के दानव की कन्या मन्दोदरी से किया । फिर कुम्भकर्ण का विवाह वज्रज्वाला नाम की कन्या से तथा विभीषण का विवाह सरमा नाम की कन्या से किया ।

सब गृहस्थी जम जाने के बाद रावण अपने क्रूरकर्म में लग गया । उधर कुम्भकर्ण को निद्रा आ गई । कहा जाता है कि कुम्भकर्ण वर्ष में छः महीना सोता तथा छः महीना जागता था । कुम्भकर्ण निद्रा में डूब गया और रावण ऋषि-मुनियों और साधु-सज्जनों को सताने में लग गया । रावण के अत्याचारों का समाचार उसके बड़े भाई कुबेर को मिला । कुबेर ने रावण के पास दूत भेजकर कहलवाया कि वह अपने अत्याचार को त्याग दे अन्यथा पुलस्त्य ऋषि के वंश में कलंक लगेगा, पर रावण ऐसी बातों को कब सुननेवाला था । उल्टे रावण ने कुबेर के दूत को मार डाला और क्रोध में आकर कुबेर पर भी चढ़ाई कर दी । यत्नों और राक्षसों में अत्यन्त भीषण युद्ध हुआ । कुबेर की हार हुई और रावण ने कुबेर का विमान अर्थात् पुष्पक छीन लिया । इसके बाद वह अभिमानी रावण तीनों लोकों की विजय करने को तैयार हुआ ।

कुबेर से छीने हुए पुष्पक विमान पर बैठकर रावण सैर करने निकला । घूमते-विचरते रावण एक सरपत के वन में पहुँचा । वहाँ सूर्य के समान प्रकाश छिटक रहा था । उस पर्वत पर पहुँचते ही विमान की गति रुक गई । यह देखकर रावण को बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि पुष्पक उसमें चढ़नेवाले की इच्छानुसार उड़नेवाला विमान था । इतने में भगवान शंकर के वाहन नन्दी वहाँ आये और कहा—‘यह शंकरजी की क्रीड़ास्थली है इसलिए तुम यहाँ से लौट जाओ ।’ उसकी बात सुनते ही रावण को क्रोध आ गया और उसने डाँटकर कहा ‘शंकर कौन है ?’ और इतना कहकर वह विमान पर से कूद पड़ा और पर्वत के मूलस्थान पर जा पहुँचा । वहाँ देखा कि एक दूसरे

शंकर के समान नन्दी हाथ में त्रिशूल लिए शंकर के पास खड़े हैं। नन्दी का मुँह वानर के समान था और रावण उनके मुख को देखकर ठहाका मारकर हँसने लगा। अपमानित नन्दी ने क्रोध में आकर कहा—‘तू मेरा बन्दर के समान मुख देखकर हँस रहा है, इसलिए मैं शाप देता हूँ कि हमारे वीर्य से ही उत्पन्न वानर तुम्हारे वंश का नाश करेंगे।’ रावण ने उसके शाप की तनिक भी परवाह न की और सीधे शंकरजी से बोला ‘हे गनपते, इस पर्वत ने मेरे विमान की गति रोक दी है, इसलिए मैं इस पर्वत को उखाड़कर फेंक रहा हूँ।’ इतना कहकर रावण ने पर्वत को उठा लिया। पर्वत के उठते ही उस पर के सभी प्राणी काँपने लगे। पार्वतीजी तो भय के मारे शंकर से लिपट गईं। इतने में शंकर जी ने धीरे से अँगूठे से पर्वत को दबा दिया। पर्वत के दबते ही रावण की विशाल भुजाएँ उसके नीचे दब गईं। अत्यन्त पीड़ा के मारे रावण भीषण नाद करके चिल्लाने लगा। उसके नाद से पूरे ब्रह्माण्ड में भूकंप सा आ गया। समुद्र खलबला उठा। रावण की यह दशा देखकर मंत्रियों ने उसे शंकर की आराधना करने तथा उन्हें प्रसन्न करने की सलाह दी। तब रावण ने दवे हाथों एक हजार वर्ष तक शंकर की स्तुति की। शंकरजी प्रसन्न हुए और उसके भीषण नाद के कारण उसका नाम ‘रावण’ रख दिया। तब रावण ने शंकरजी से वरदान माँगा कि ‘हे देव, ब्रह्माजी ने मुझे दीर्घायु तो बनाया ही है, जो कुछ आयु बच रही है, उसे भी आप पूरी कर दें।’ शंकरजी ने ‘एवमस्तु’ कहा और उसे ‘चन्द्रहास’ नाम की एक तलवार भी दी और कहा कि कभी इस तलवार का तिरस्कार न करना नहीं तो यह फिर हमारे पास आ जायगी।

इसके उपरान्त रावण फिर घूमने लगा। वह एक स्थान पर पहुँचा और देखा कि वेदवती नाम की एक सुन्दरी युवती तपस्या कर रही थी। रावण उस पर मोहित हो गया। उसके साथ उसने बलात्कार करना चाहा और वेदवती का परिचय पूछा। वेदवती ने कहा ‘मैं विष्णु भगवान को पतिरूप में पाने के लिए तप कर रही हूँ। मैं बृहस्पति के पुत्र कुशध्वज की कन्या वेदवती हूँ, अब तो रावण का मन और भी विचलित हो गया और उसका केश पकड़ कर बसीटना चाहा। वेदवती ने अपना बाल काट डाला और क्रोध करके

बोली 'रे दुष्ट, तू ने मेरा शरीर छू लिया है, इसलिए मैं तेरे ही सामने भस्म हो जा रही हूँ और दूसरे जन्म में जन्म लेकर तेरी मृत्यु का कारण बनूँगी'। इसके बाद वेदवती तुरन्त भस्म हो गई और वही सीता बनकर रावण की मृत्यु का कारण बनी।

इसके बाद अभिमानी रावण चारों दिक्पालों को जीतने चला। चारों दिक्पाल हैं—इन्द्र, वरुण, कुबेर और यमराज। जिसमें कुबेर को तो वह पहले ही जीत चुका था। अब वह अभिमानी रावण इन्द्र की ओर बढ़ा। रावण सीधे इन्द्रलोक पहुँचा। उसके उपद्रव से भीषण हाहाकार मचा, जिससे इन्द्र घबरा उठे और भगवान विष्णु के पास पहुँचे। विष्णुजी से उसके वध करने का उपाय पूछा तो विष्णु ने उत्तर दिया कि देवता एवं राक्षसों के हाथों वह नहीं मर सकता और न जीता ही जा सकता है, क्योंकि वह ब्रह्मा के वरदान से सुरक्षित है। मैं ही समय आने पर उसका वध करूँगा। इस समय तुम सभी जाओ और उससे युद्ध करो। इन्द्र लौट आये, अपने सेना-नायकों, दिक्पालों, मरुद्गणों, इन्द्रों तथा अन्यान्य देवों को युद्ध में लगा दिया, फिर भी इन्द्र की सेना हार गई। रावण के बेटे मेघनाद ने अपनी माया के बल से इन्द्र को कैदी बना लिया और लंका ले आया। यहाँ ब्रह्माजी के कहने पर मेघनाद ने इन्द्र को मुक्त किया, पर इस कार्य के बदले में मेघनाद ने ब्रह्माजी से यह वर माँगा कि—'मुझे इच्छानुसार सिद्धियाँ दीजिये। जब मैं विजय की इच्छा से हवन करूँ तो अग्नि से मेरे लिए सजा-सजाया रथ निकले और जब तक मैं उस रथ पर रहूँ, तब तक मुझे कोई भी मार न सके। किन्तु जब मेरा यज्ञ खण्डित हो जाय तो अवश्य मैं मारा जा सकूँ।' ब्रह्माजी उसे वर देकर अपने लोक चले गये।

इसी प्रकार रावण ने यमराज और वरुण को भी जीत करके परास्त कर दिया। कहने का तात्पर्य यह कि रावण तीनों लोकों, देवों तथा दानवों को परास्त कर चुका। सभी राजा उसके अधीन हो गये। सभी देवता उसकी आज्ञानुसार चलने को बाध्य हो गये। अब तो रावण के अभिमान और अत्याचार का कोई ठिकाना ही न था। लगा घूम-घूमकर योद्धाओं को ढूँढ़ने, ललकारने और उनसे युद्ध करने। इसी प्रकार वह ललकारता हुआ

बालि के पास लड़ने के लिए पहुँचा। बालि उस समय तर्पण कर रहा था, उसे लड़ने की फुरसत न थी, इसलिए बालि ने रावण को उठाकर सहज ही में अपनी काँख में दबा लिया और उतने दिनों तक दबाये आकाश में उड़ता रहा, जब तक उसका तर्पण समाप्त नहीं हो गया। तर्पण समाप्त होने पर उसने रावण को मुक्त किया और तब लड़ने को कहा। वेचारा रावण अब क्या लड़ता बालि से, उससे तो वह ऐसे ही परास्त रहा। तब खिसियाकर रावण ने बालि को विजयी और सर्ववली मानकर उससे मित्रता कर ली। तीनों लोकों की विजय करनेवाला रावण बालि से आज बुरी तरह परास्त हुआ और अत्यन्त लज्जित हुआ। इस घटना से बालि की वीरता का अनुमान आसानी से लग सकता है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि साधु-सज्जनों, ऋषियों-मुनियों को सताने में रावण को आनन्द आता था। एक समय की बात है कि रावण ने ऋषियों से कर माँगने के लिए दूत भेजा। ऋषियों ने एक घड़े में खून भरकर रावण के पास भेजा और कहा कि इस घड़े के खुलने से ही रावण का नाश होगा। रावण ने भय और क्रोध से उस घड़े को जनकपुरी में गड़वा दिया और उसी घट से हल की नोक लगने से सीताजी का जन्म हुआ। वही वेदवती तपस्विनी है, जो सीता के रूप में जन्म लेकर रावण का नाश करने आई। इधर भगवान रामचन्द्र जी ने दशरथ के यहाँ मनुष्यरूप में अवतार लिया। राम और सीता का विवाह हुआ। राम का सीता-लक्ष्मण सहित वनवास हुआ। वन में रावण ने सीता का हरण किया, जिसके फलस्वरूप रावण की मृत्यु हुई। अब उसे परमगति मिली।

वसुदेव-देवकी-कृष्णावतार

एक समय द्वापर में शूरसेन नाम के यशस्वी यदुवंशी राजा मथुरा में राज्य करते थे। वसुदेव इन्हीं शूरसेन के पुत्र थे। वसुदेव का विवाह देवकी से हुआ था। देवकी कंस की चचेरी बहन थी। देवकी के विवाह के समय कंस अत्यन्त प्रसन्न था। वह देवकी को सगी बहन की तरह ही मानता था। जब देवकी विदा होकर चलने लगी तो प्रेम और आदर के मारे कंस त्वयं ही रथ हाँक

रहा था। उसी समय आकाशवाणी हुई—‘अरे मूर्ख! तू जिसका रथ हाँक रहा है, उसी के गर्भ से उत्पन्न आठवीं सन्तान तेरा वध करेगी।’ यह आकाश-वाणी सुनते ही कंस के होश उड़ गये और साथ ही उसकी क्रोधाग्नि उबल पड़ी। तलवार खींच कर वह देवकी का सिर काट लेने को तत्पर हुआ। यह देख वसुदेव ने कंस से देवकी की प्राण-रक्षा की प्रार्थना की और यह वचन दिया कि—‘मैं अपनी आठवीं सन्तान आपको भेंट कर दूँगा। उसे आप मार डालेंगे।’ खैर, कंस मान गया।

इसके पश्चात् ‘हरि गुन गावत भगड़ा लगावत’ महर्षि सर्वद्रष्टा और सर्व-वेत्ता नारद जी कंस के दरबार में पहुँचे। नारद ने कंस को सतर्क किया। कंस के सामने एक कमल का खिला हुआ फूल प्रस्तुत किया, जिसमें आठ ही पंखुड़ियाँ थीं। और कहा ‘देखो, इसे गिनो।’ कंस ने देखा कि उसमें प्रत्येक पंखुड़ी आठवीं हो सकती थी। इसी प्रकार नारदजी ने समझाया कि देवकी के पुत्रों में भी कोई भी पुत्र आठवाँ हो सकता था, अर्थात् सभी पुत्रों से खतरा बराबर ही था। यह जानकर नारद को बड़ी प्रसन्नता हुई थी कि कंस की मति अष्ट हो रही थी। नारद ने उस मति पर और भी पालिश चढ़ाते हुए कहा—‘देखो कंस, देवकी के गर्भ से भगवान का जन्म होनेवाला है। नन्द, यशोदा, वसुदेव, देवकी, गोपियाँ, ग्वाल, बाल आदि सभी साधारण मनुष्य न होकर देवताओं और देवांगनाओं के अंशावतार हैं, जिन्होंने भगवान की आज्ञा से मथुरा और यदुकुल में अवतार लिया है।’

नारद की बात सत्य ही तो थी। पुराणों में ऐसा ही वर्णन आया है। यह वह समय था, जब राजा वेशधारी नाना प्रकार के क्रूर-बुद्धि राज्ञों से धर्म की हानि हो रही थी। कंस के अत्याचारों से पृथ्वी परेशान थी। एक दिन जब असह्य हो गया तो पृथ्वी ने गौ का रूप धारण किया और ब्रह्माजी के पास गई और अपना कष्ट और राज्ञों का अत्याचार सुनाया। ब्रह्माजी, शंकर आदि समस्त देवताओं के साथ भगवान के धाम क्षीरसागर के तट पर पहुँचे और ध्यान लगाया। उन्हें आकाशवाणी सुनायी दी और सहसा उनके नेत्र खुल गए, तब उन्होंने पृथ्वी एवं अन्य देवों से कहा—‘आकाशवाणी में भगवान ने आश्वासन दिया है कि मैं अपने अंशों सहित यदुकुल में देवकी के

गर्भ से वसुदेव के पुत्र रूप में अवतार लूँगा । और तुम सभी देवता एवं देवांगना यदुकुल में ग्वाल, गोप, गोपियों तथा अन्य जीवों के रूप में अंशावतार लो और भगवान की लीला में सहयोग दो । भगवान स्वयं कृष्ण उनके अंश शेषनाग कृष्ण के बड़े भाई बलराम तथा उनकी शक्ति माया राधा के रूप में अवतार लेंगी ।' ब्रह्माजी का यह वर्णन सुनकर सभी देवता प्रसन्न हुए और द्वापर में भगवान के आज्ञानुसार यदुकुल में जन्म ग्रहण कर भगवान की लीला सम्पन्न करायी ।

इधर नारद की युक्ति भरी बातों को सुनकर कंस को बड़ा आश्चर्य हुआ । साथ ही बड़ी चिन्ता भी हुई । उसने वसुदेव और देवकी को तुरन्त कैद कर लिया और हाथों में हथकड़ी डलवा दी । इस प्रकार वसुदेव और देवकी का जीवन कारागार में बीता ।

अब नारद के सुभाषों के अनुसार जो भी सन्तान वसुदेव और देवकी के होती, उसे कंस तुरन्त मार डालता । इस प्रकार देवकी के छः पुत्रों का उसने क्रूरतापूर्वक वध किया । सातवें गर्भ में भगवान शेष, जो ईश्वर के ही अंश हैं, पधारे । इस बार के गर्भ से देवकी को विशेष आनन्द हुआ, पर तुरन्त ही शोकाकुल हो गई कि कंस तो इसे भी मार ही डालेगा । भगवान अन्तर्यामी सबके मन की बात जान लेते हैं । उन्होंने देवकी के शोक को पहचान ही लिया और उन्हें आनन्द देने के उपाय में लग गये । उन्होंने तुरन्त अपनी योगमाया को आदेश दिया कि 'तुम जाकर देवकी के पेट से सातवाँ गर्भ, जो मेरे अंश स्वयं शेष हैं, खींचकर वसुदेव की दूसरी पत्नी रोहिणी, जो ब्रज में रह रही हैं, के पेट में स्थित कर दो । और इस प्रकार खींचे जाने के कारण उन्हें लोग 'संकर्षण' और बली होने के कारण 'बलभद्र' तथा सबको आनन्द देने के कारण 'राम' कहेंगे । इसके बाद तुम नन्द की स्त्री यशोदा के गर्भ में प्रवेश करो और मैं पुनः देवकी के गर्भ में प्रवेश करूँगा ।'

इधर कंस को जब यह पता चला कि देवकी के पेट से गर्भ गायब हो गया, तब तो वह अत्यन्त घबराया । किन्तु करता ही क्या ! समय बीतता गया । आठवें गर्भ का भी समय आ गया । इस बार स्वयं भगवान ने ही देवकी के गर्भ में प्रवेश किया । देवतागण स्तुति करने लगे । वसुदेव-देवकी भी अति

प्रसन्न हुए। इधर कंस को फिर देवकी के गर्भ का पता चला। सातवें गर्भ से घोखा उठा चुका था, इसलिए इस बार बड़ी सतर्कता से सख्त पहरा कर दिया।

होनी तो होकर ही रहेगी, कोई भी यत्न किया जाय। गर्भ का समय पूरा हो चला। भादों का महीना, अष्टमी का दिन, रोहिणी नक्षत्र और आधी रात का समय था। भगवान ने अपने असली रूप में शंख, चक्र, गदा, पद्म लिए जन्म लिया। दर्शन पाकर माता-पिता अति प्रसन्न हुए। तब वसुदेव ने प्रार्थना की 'हे भगवन्, आप हम लोगों का उद्धार कीजिये और बालक रूप में दर्शन दीजिये। हम लोग तो तरस रहे हैं।' भगवान ने उपाय बताया— 'हे तात, आप मुझे तुरन्त ब्रज ले चलिये और यशोदा के पास लिटा दीजिये और यशोदा के गर्भ से कन्या पैदा हुई है, उसे उठा लाइये और अपने पास रखिये। शीघ्रता कीजिये।'।

भगवान के इन वचनों को सुनकर वसुदेव के हर्ष का पारावार न रहा। किन्तु उन्होंने सोचा, 'चारों ओर अंधेरा है। आधी रात का समय है। पानी बरस रहा है। हाथ पसारे कहीं सूझता नहीं है। चारों ओर सख्त पहरा है।' वसुदेव बड़े असमञ्जस में पड़ गए, किन्तु भगवान का नाम लेकर बालक को सूप में रखा और बाहर आने को तैयार हुए। उसी समय आश्चर्य के साथ देखा कि सभी फाटक खुले हैं। पहरेदार सभी खुराटे के साथ सो रहे हैं। पानी की भींसियाँ पड़ रही हैं। जाने लायक रास्ता बिलकुल साफ है। भगवान की यह अद्भुत लीला देखकर वसुदेव के आश्चर्य और आनन्द का ठिकाना न रहा।

अब क्या था। भगवान को लिये वसुदेव शीघ्रता से आगे बढ़े। चलते-चलते यमुनातट पर पहुँचे। यमुना जी हहाकर वेग से बह रही थी। रात साँयँ कर रही थी। लगता था, मानो अभी यमुना जी लील जायँगी। करते क्या, दूसरा उपाय न था। हिम्मत बाँधकर वसुदेव ने यमुना में प्रवेश किया, उस समय उनके भय का ठिकाना न रहा, जब कि उन्होंने देखा कि सूप को जितना ही ऊपर उठाते जाते हैं, उतने ही ऊपर यमुना का जल उठता जाता था। सूप को कन्धे पर रखा। यमुना जी कन्धे तक आ गयीं। और ऊपर उठाया। पानी वसुदेव की नाक तक आ पहुँचा। वसुदेव के प्राण संकट में पड़ गये। लीलामय भगवान ने वसुदेव की यह हालत देखकर अपना पैर

पीछे की ओर बढ़ाकर लटका दिया। चरणों का स्पर्श करते ही यमुना-जल एकाएक घटकर घुटनों के नीचे चला गया। वसुदेव को बड़ा आश्चर्य हुआ। वास्तविकता यह थी, यमुना जी भगवान के चरणों का स्पर्श करने के लिए ही ऊपर उठती आ रही थीं। वसुदेव जी यमुना लाँघकर किसी प्रकार ब्रज पहुँचे।

ब्रज में पहुँचकर उन्होंने देखा कि नन्द के यहाँ भी सब सो रहे हैं। फाटक खुले हुए हैं। वसुदेव जी सीधे अन्दर पहुँचे और देखा कि माता यशोदा सो रही हैं और उनके सामने तुरन्त की पैदा हुई कन्या पड़ी हुई है। वसुदेव के आनन्द का ठिकाना न रहा। उन्होंने बालक को वहीं रख दिया और कन्या को उसी सूप में रखकर पुनः उसी पाँव रवाना हुए। सीधे मथुरा-जेल पहुँचे। यहाँ पर भी पहले की ही तरह फाटक खुले और पहरेदार सोये पड़े थे। वसुदेव जी सीधे अपनी कोठरी में पहुँचकर कन्या को यथास्थान रखते ही क्या देखते हैं—कि उनके तथा देवकी के हाथों में हथकड़ियाँ जादू की भाँति फिर गड़ गईं। फाटकों में ताले बन्द हो गये। पहरेदार उठ खड़े हुए और चौकन्ने हो चले। इधर कन्या ने 'केहाँ वेहाँ' की आवाज प्रारम्भ की। तुरन्त कंस को खबर गई। वह हाथ में तलवार लिए हुए हड़बड़ाया हुआ पहुँचा और कन्या को उठाकर मारने को उद्यत हुआ। देवकी ने गिड़-गिड़ाकर याचना की कि—'भैया, यह तो कन्या है, इसे छोड़ दीजिये। यह आपका क्या अनिष्ट कर सकती है।' किन्तु कंस कब इन बातों को सुनने को था। उसने कन्या का एक पैर पकड़ा और झटके के साथ पटकना चाहा कि कन्या उसके हाथ से छूटकर आकाश में उड़ गई और आकाशवाणी हुई कि—'हे मूर्ख ! तेरा काल तो जन्म ले चुका है, अब तू बच नहीं सकता।' इस आकाशवाणी को सुनकर कंस को लगा जैसे मृत्यु सामने बोल रही है। उसने उपाय प्रारम्भ कर दिया और यह प्रबन्ध कर दिया कि ब्रज में जितने भी छोटे-बड़े बच्चे हों, सबको मार डाला जाय।

इधर ब्रज में भगवान ने यशोदा और नन्द को साक्षात् दर्शन दिया। फिर नन्द-यशोदा ने भगवान का दर्शन पाकर कृतार्थ होते हुए दिनती की कि—'हे भगवन् ! मुझे आपकी बाल-लीला का आनन्द चाहिए, इसलिए श्रावण बाल रूप धारण करके हमें कृतार्थ करें।' कहा जाता है कि पूर्वजन्म में नन्द

यशोदा ने इसी के लिए तप भी किया था। भगवान ने बाल रूप धारण किया और नन्द-यशोदा एवं समस्त ब्रज को अपनी लीलाओं से आनन्दित किया। इसके उपरान्त भगवान कृष्ण ने नाना प्रकार के कौतुक द्वारा कंस का संहार किया और इस प्रकार पृथ्वी का भार टाला।

वाराह-अवतार

महा प्रलय के बाद चारों ओर जल ही जल था। उसी समय श्रीहरि भगवान की नाभि से ब्रह्मा जी कमल-नाल के द्वारा उत्पन्न हुए। भगवान की प्रेरणा से ब्रह्माजी सृष्टि-रचना के उपाय में लग गये। उस समय उन्होंने अपने पुत्र स्वायंभुव मनु और पुत्रवधू शतरूपा को बुलाया और अपने ही समान गुणवाली उत्तम प्रजा उत्पन्न करने का आदेश दिया। मनु ने आज्ञा शिरोधार्य कर ली, पर उन्हें चारों ओर जल ही जल देखकर बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने विनम्र होकर आदि पिता ब्रह्माजी से कहा 'भगवन् ! चारों ओर तो जल ही बल है। प्रजा के रहने का कोई उपयुक्त स्थान तो बताइये। रची हुई प्रजा कहाँ रहेगी।' ब्रह्माजी ने भी बात ठीक ही मानी। अब वे चिन्तन करने लगे कि इसका क्या उपाय किया जाय। जब हम लोग लोक-रचना में लग गये तो पृथ्वी रसातल में चली गई। वह अब ऊपर कैसे लाई जाय। इसी चिन्ता में ब्रह्माजी मग्न थे कि उसी समय ब्रह्मा के नासा छिद्र से अँगूठे के बराबर का एक वाराह-शिशु निकल पड़ा।

उसे देखकर ब्रह्माजी स्वयं विस्मय में पड़ गये कि वह अद्भुत प्राणी कौन है ? ब्रह्मा के देखते ही देखते वह वाराह (सुअर) पर्वताकार हो गया। अब वह वाराह और भी चकरा देने वाला प्राणी हो गया। इसके पश्चात् देखते ही देखते वह शूकर समुद्र में कूद पड़ा। समुद्र खलबला उठा। सारे जलचर जीव भयभीत हो गये। शूकर भगवान सीधे नीचे की ओर बढ़ते चले गये। बड़ी देर तक वे पृथ्वी की खोज करते रहे। अन्त में पृथ्वी को अपने दाढ़ पर टिकाये हुए बाहर आने लगे। मार्ग ही में उन्हें एक महाबली पर्वताकार राक्षस मिला, जिसने ऐसी खींचकर गदा मारी कि वाराह भगवान थोड़ी देर के लिए चकरा गये।

वह राक्षस समुद्र में रहनेवाला हिरण्याक्ष था, जो जबरदस्ती भगवान से बैर ले रहा था। भगवान वाराह ने उसे अपने तीखे दाँतों से मारकर स्पर्श भेज दिया। और पृथ्वी को लेकर बाहर निकले। बाहर आने पर ब्रह्मा तथा मरीचि आदि ऋषियों ने उनका दर्शन किया और नाना प्रकार से भगवान की स्तुति की। वाराह भगवान की जय !!

वाल्मीकि

आदिकवि वाल्मीकि महाकाव्य रामायण के रचनेवाले महर्षि थे। कहा जाता है कि पहले ये बड़े अत्याचारी और पापी थे। इनका एकमात्र यही कार्य था कि रास्ते में बैठकर बटोहियों को लूटना तथा जीवों का शिकार करना। एक दिन का संयोग है कि नारद आदि ऋषि उसी मार्ग से आ निकले, जहाँ वाल्मीकि बैठे थे। वाल्मीकि ने उन पर भी धावा मारना चाहा। तब ऋषियों ने इन्हें समझाकर कहा 'तुम इतना पापकर्म किसके लिए करते हो?' वाल्मीकि ने उत्तर दिया 'अपने परिवारवालों के पोषण के लिए।' फिर ऋषियों ने कहा 'तुम्हारे परिवारवाले तुमसे भोजन प्राप्त कर रहे हैं तो वे तुम्हारे पाप में भी हिस्सा बँटाने को तैयार हैं?' तब तो वाल्मीकि चक्रा गये और कुछ बोल न पाये। फिर ऋषियों ने कहा 'अच्छा जाओ, अपने कुटुम्बवालों से पूछ आओ कि वे तुम्हारे पाप में भी भाग लेंगे या तुम्हारे शिकार में ही हिस्सा बँटा रहे हैं। वाल्मीकि सीधे घर गये और उन्होंने अपने घरवालों को इकट्ठा करके पूछा 'क्या आप लोग हमारे पाप और दुर्देव में भी साझीदार होंगे?' तब तो घरवालों ने साफ इनकार कर दिया कि 'तुम्हारे पाप के साथी हम लोग कैसे हो सकते हैं? उसका फल तो तुम्हें ही भोगना पड़ेगा।' तब तो वाल्मीकि की आँखों का परदा हट गया। अब वे सीधे ऋषियों के पास पहुँचे और अपने घरवालों का संवाद कह सुनाया। ऋषि ने वाल्मीकि की आँखें खोल दीं और समझाया 'जब तुम्हारे घरवाले इतने स्वार्थी हैं कि तुम्हारे पाप में साझी नहीं होना चाहते तो कष्ट भोगने के लिए तुम इतना पाप क्यों कर रहे हो? दुनिया में सभी स्वार्थ के मित्र हैं। इसलिए तुम इस दुष्कर्म को छोड़कर 'राम राम' करो।' वाल्मीकि की आँखें खुल गईं और ऋषियों की बातें उनकी समझ में आ गईं।

बस, उसी क्षण उन्होंने धनुष-बाण त्याग दिया और बैठ गये ईश्वर-भजन के लिए। पर उन्होंने कभी पाठशाला का तो मुँह देखा न था। उनसे 'राम राम' कहते ही नहीं बनता था। बजाय 'राम राम' के उन्होंने 'मरा मरा' कहना प्रारम्भ किया। संयोग से 'राम राम' शब्द ऐसे हैं कि उल्टा कहने पर भी 'मरामराम' अर्थात् 'राम राम' ही बन पड़ता है। इस प्रकार उल्टा नाम जपते-जपते ही उन्होंने समाधि लगा ली। वे समाधि में इतना लीन हो गये कि वर्षों बीत गया। समय अधिक बीत जाने पर दीमकों ने उनके ऊपर ही अपना ब्रीम बना लिया। दीमकों के ब्रीम को वल्मीक भी कहते हैं, इसीलिए इनका नाम बाद में 'वाल्मीकि' पड़ गया। समाधि में ही इन्हें ज्ञान हो गया और महा ज्ञानी ऋषि होकर दुनिया के सामने आये और संस्कृत भाषा में समूची राम की कथा रच डाली।

विदुर

विदुर कौरव और पाण्डवों के चाचा थे। जन्म से ही विदुर धर्मात्मा, ईश्वरभक्त और न्यायी थे। कहा जाता है कि पूर्वजन्म के ये धर्मदेव थे, जिन्हें शापवश शूद्राणी के गर्भ से पैदा होना पड़ा था। इनका जन्म दासी के गर्भ से हुआ था। महाभारत में इनके जन्म का प्रसंग इस प्रकार आया है।

राजा शन्तनु की स्त्री सत्यवती थी। सत्यवती से दो पुत्र पैदा हुए। एक का नाम चित्रांगद और दूसरे का नाम विचित्रवीर्य था। विचित्रवीर्य राजा बने। उनके दो रानियाँ थीं, पर उनके कोई सन्तान न हुई। तब सत्यवती ने वंश चलाते के लिए व्यासदेव का स्मरण किया और विचित्रवीर्य की स्त्रियों से नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करने का आदेश दिया। व्यास भी सत्यवती के ही पुत्र थे। सत्यवती ने अपनी पतोहू अम्बिका को तैयार किया। जब आधी रात के समय व्यास आये तो उनके रूप को देखकर स्त्री अत्यन्त भयभीत हो गई। उसने आँखें मूँद लीं, जिससे एक जन्मांध पुत्र हुआ जो धृतराष्ट्र कहलाया। सत्यवती को अब भी वंश की चिन्ता बनी ही रही। उन्होंने पुनः व्यास का आवाहन किया और इस बार दूसरी पतोहू अम्बालिका को नियोग के लिए तैयार किया, किन्तु नियोग के समय वह भी डर के मारे पीली पड़ गई और पाण्डु रोग का रोगी पुत्र हुआ, जो पाण्डु कहलाया।

एक सन्तान अन्धी हुई और दूसरी पाण्डु रोग की रोगी। अब वंश के चलने की आशा न दीख पड़ी। तब सत्यवती ने एक बार पुनः व्यास को बुलाया और उत्तम पुत्र पैदा करने का आदेश दिया। इधर पतोहू अम्बालिका को भी तैयार किया, पर वह व्यास को एक बार देख चुकी थी। इस बार उसे घृणा और भय उत्पन्न हो आया और उसने अपनी दासी को अपना कपड़ा पहनाकर भेज दिया। उसी दासी के गर्भ से विदुर जी का जन्म हुआ।

विदुर परमज्ञानी, विवेकी, न्यायी और धर्मज्ञ थे, पर दासीपुत्र होने के कारण गद्दी के मालिक न हो सके। विदुर तथा उनकी पत्नी—दोनों ही परम भक्त थे। भगवान के चरणों में उनकी अनन्य भक्ति थी। एक दिन की बात है कि विदुर की स्त्री अपने आँगन में दरवाजा बन्द किये नंगे स्नान कर रही थीं (जैसा कि स्त्रियों का साधारण व्यवहार है)। ठीक उसी समय श्री कृष्णजी पहुँचे और बाहर से दरवाजा खटखटाया और पुकारा। विदुर-पत्नी ने आवाज सुनते ही पहचान लिया कि कृष्ण बुला रहे हैं। भगवान को अपने द्वार पर आया जान अपने को धन्य मानने लगीं और प्रेम में विह्वल हो उठीं। यहाँ तक कि अपने तन को ढकने की सुधि भी न रही। स्नान भी पूरा न हुआ था। सीधे झुक कर किवाड़ के पास गईं और तुरन्त दरवाजा खोलकर भगवान को अन्दर ले आईं।

अब भगवान का स्वागत किस चीज से करें, यह एक समस्या थी, क्योंकि कोई चीज तैयार न थी। फिर याद आया कि कुछ पके केले रखे हैं। दौड़कर केले उठा लायीं। मारे आनन्द के कुछ सूझ न रहा था। जल्दी-जल्दी केलों को छीलने लगी। गूँसा फेंकती जातीं और छिलका भगवान के हाथ में देती जाती थीं। और नाना प्रकार की बातें भी करती जाती थीं। भगवान भक्तवत्सल भी बिना कुछ सोचे-विचारे प्रेम से लगे छिलके खाने। इस प्रकार विदुर-पत्नी ने सब छिलके भगवान को खिला दिये और गूँसे फेंक दिये। अन्त में केवल एक ही केला बचा था कि एकाएक उन्हें ध्यान आ गया कि मैं तो छिलका खिला रही हूँ और गूँसा फेंकती जाती हूँ। अब बड़ा पश्चात्ताप हुआ। पर करती ही क्या? अन्तिम केले का छिलका फेंक दिया और गूँसा भगवान को

देने लगीं। भगवान ने तुरन्त इनकार कर दिया और कहा कि 'मुझे तो छिलके ही मोठे लग रहे हैं।'

वास्तव में बात तो यह थी कि भगवान तो भक्त के प्रेम के भूखे रहते हैं। और वह प्रेम तब तक पूर्ण नहीं हो सकता, जब तक भक्त अपने को विल्कुल न भूल जाय। जब तक भक्त के अन्दर भेदभाव, लोक-लज्जा, ऊँच-नीच, तर्क और बुद्धि आदि की बनावट रहेगी, तब तक भगवान प्रसन्न नहीं होंगे। जब तक विदुर-पत्नी ने प्रेम से छिलका दिया, भगवान खाते गये और जैसे ही उनमें ज्ञान आया और मर्यादा की बात आई, प्रेम में अन्तर पड़ गया और भगवान ने पूजा अस्वीकार कर दी। तात्पर्य यह कि भक्ति की अन्तिम सीमा वहीं है, जहाँ ज्ञान, बुद्धि, तर्क, मर्यादा, लज्जा आदि समाप्त हो जाते हैं और भक्त में केवल प्रेम ही प्रेम रह जाता है। इस प्रकार भगवान की भक्ति विदुर और विदुर-पत्नी को प्राप्त थी।

व्याध-कपोत

किसी गाँव में एक व्याध रहता था। वह पक्षियों को पकड़ता, उन्हें मार कर खाता तथा उनका व्यापार किया करता था। एक दिन वह घर से निकला और जंगल में चला गया। रात हो गई, पर कोई शिकार न मिला। इसी समय बड़े जोर की आँधी आई और भीषण वर्षा हुई। सर्दी का दिन था। व्याध अत्यन्त परेशान था। वह एक पेड़ के नीचे बैठ गया। उसने देखा कि एक कबूतरी सर्दी से ठिठुरी हुई वृक्ष के नीचे पड़ी है। व्याध ने उसे पकड़कर अपने पिंजड़े में बन्द कर दिया। बाद में वहाँ से व्याध चल दिया, पर पुनः पानी बरसने लगा और झपटकर व्याध ने पास ही एक दूसरे पेड़ की शरण ली। पानी इतने जोर से बरसा कि वह घर न जा सका।

उसी पेड़ पर एक कबूतर रहता था। उसकी स्त्री दाना चुगने बाहर गई थी और लौटकर नहीं आई थी, इसलिए वह अपनी पत्नी के लिये विलाप कर रहा था। संयोगवश वही उसकी पत्नी थी जो व्याध के पिंजरे में बन्द थी और उसे लिये हुए व्याध उसी पेड़ के नीचे बैठा था। पति का विलाप सुनकर वह कबूतरी पिंजरे में से ही बोलती है 'पतिदेव ! आप इस समय मेरी

चिन्ता छोड़ दीजिये । यह व्याध आपका अतिथि है, पहले इसकी अतिथि-सेवा कीजिये, तब आप दूसरी बात सोचियेगा । अतिथि की सेवा भगवान की सेवा के बराबर है ।' कबूतर भट व्याध के पास आया और पत्तियाँ इकट्ठा करके जलाकर व्याध की सर्दी दूर की और इसके बाद उससे भोजन-व्यवस्था के बारे में बात की । संयोग से व्याध भूखा था, पर कबूतर के घर में तो फूटा दाना भी न था, देता ही क्या ? उसने व्याध से कहा 'मैं इसी अग्नि में प्रवेश करता हूँ और आप मेरे मांस से अपनी भूख शान्त कीजियेगा ।' इतना कहकर कबूतर ने आग में अपने को भून डाला । व्याध बड़ा लज्जित हुआ और सोचने लगा 'एक मैं हूँ, जो इतना पाप करता हूँ और एक प्राणी यह है, जिसने अतिथि-सेवा के लिए अपना शरीर तक भून डाला ।' उसने तुरन्त कपोती को छोड़ दिया और व्याध-कर्म त्याग देने का निश्चय किया । कपोती भी उसी आग में कूद पड़ी और व्याध ने देखा कि स्वर्ग से एक सोने का विमान आया और दोनों को स्वर्गधाम उठा ले गया । बहेलिये ने उन कपोतों को धन्य कहा और स्वयं भी उसी आग में कूद पड़ा और स्वर्ग-धाम को चला गया । सच है अतिथि-सेवा परम धर्म है, क्योंकि न जाने कब अतिथि रूप में भगवान ही आ जायें ।

सत्यवती-व्यास

सत्यवती का प्रारम्भिक नाम मत्स्यगन्धा था । सत्यवती का जन्म मछली के पेट से हुआ था और उसके शरीर से मछली की-सी गन्ध आती थी, इसीलिए उसका नाम मत्स्यगन्धा पड़ा था । सत्यवती के जन्म की कथा महाभारत के आदिपर्व में आई है ।

पुरु वंश में एक राजा उपरिचर हो चुके हैं । उनकी रानी का नाम गिरिका था । एक दिन रानी ने ऋतुस्नान किया, किन्तु उसी दिन राजा शिकार खेलने जंगल चले गये और रानी की इच्छा पूरी न हो सकी । राजा शिकार खेलने तो चले गये, पर उनको रानी की याद बराबर बनी रही । जंगल में जाकर शिकार से थके हुए राजा एक वृक्ष की छाया में बैठ गये और अपनी रानी की याद करने लगे । उसी समय उनका वीर्य स्खलित हो गया । राजा ने

उसे उठाकर एक पत्ते पर रख दिया और सोचा कि यह वीर्य अमोघ है और रानी भी ऋतुस्नान कर चुकी है, इसलिए इसे रानी के पास भेजना चाहिये। उसी समय एक बाज पक्षी से राजा ने उस दोने में रखे वीर्य को रानी के पास ले जाने को कहा। बाज दोना लेकर उड़ा, किन्तु रास्ते में आकाश में एक दूसरे बाज से लड़ाई हो गई जिससे दोने सहित वीर्य यमुना में गिर पड़ा। उस वीर्य को एक मछली ने वेग से निगल लिया। यह मछली पूर्वजन्म में अद्रिका नाम की अप्सरा थी, जो ब्रह्मा के शाप से मछली के रूप में यमुना में पड़ी थी।

इस प्रकार दस महीने बीत गये। एक दिन कुछ मछुये मछली पकड़ने गये। उस मछली को भी पकड़ लिया और जब उसका पेट फाड़ा तो देखा कि उसके पेट में मनुष्य के दो बच्चे हैं। एक बालक और एक बालिका। दोनों को लेकर मछुये उपरिचर राजा के दरबार में पहुँचे। इधर अप्सरा भी मछुओं के हाथ से मरकर शापमुक्त हो गई।

राजा ने बालक को तो ले लिया और कन्या को उसी दाशराज मछुये को सौंप दिया। उस कन्या के शरीर से मछली की गन्ध आती थी, इसलिए उसका नाम मत्स्यगन्धा पड़ा। आगे चलकर इसी कन्या का नाम सत्यवती हुआ।

अब दाशराज की इस कन्या का यही व्यवसाय था कि वह यात्रियों को नाव पर बैठाकर इस पार से उस पार उतारे। कुछ समय उपरान्त उसी घाट पर महर्षि पराशरजी का आगमन हुआ। उस परम सुन्दरी युवती मत्स्यगन्धा के रूप को देखकर पराशर ऋषि का चित्त काबू में न रहा। उन्होंने मुख और कामोन्मत्त होकर कहा कि—‘हे सुन्दरी! तुम मेरी इच्छा पूर्ण करो।’ सत्यवती ने कहा—‘भगवन्! मैं आपकी आज्ञा का पालन कैसे कर सकती हूँ। उस पार ऋषि लोग पार आने के लिए खड़े हैं, वे देख रहे हैं।’

सत्यवती के यों कहने पर कामातुर पराशर ऋषि ने तुरन्त कुहरा उत्पन्न कर दिया और चारों ओर अँधेरा छा गया। यह देखकर सत्यवती को बड़ा अचरज हुआ और लज्जाकर कहा—‘भगवन्, मैं अमी कुमारी हूँ, आपकी आज्ञा

मानने से मेरा कौमार्य धर्म नष्ट हो जायगा। आप तो सर्वज्ञानी हैं, जैसा उचित हो, वैसा करें।' पराशर ने प्रसन्न होकर कहा—'सुन्दरी! तुम मेरा प्रिय करने से कुमारी ही बनी रहोगी। तुम जो चाहो, वर माँग लो।' सत्यवती ने कहा—'यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे वर दीजिये कि मेरे शरीर की दुर्गन्धि दूर हो जाय और शरीर में सुगन्धि आ जाय। इसके उपरान्त सत्यवती ने मुनि की इच्छा पूरी की। अब उसका शरीर महँकने लगा। तभी से उसका नाम सत्यवती, गन्धवती और योजनगन्धा हो गया। पराशरजी अपने आश्रम को चले गये।

इधर मुनि के चले जाने के उपरान्त सत्यवती ने पराशर के सहवास से गर्भ धारण कर उसी क्षण एक तेजस्वी बालक को जन्म दिया। महा यशस्वी पराशर का यह पुत्र पैदा होते ही तप करने के लिए चल पड़ा। जाते समय उन्होंने माता से कहा कि—'आवश्यकता पड़ने पर मेरा स्मरण करना, मैं आ जाऊँगा।' इस प्रकार महर्षि पराशर के वीर्य से सत्यवती के गर्भ से भगवान् वेदव्यास का जन्म हुआ। उनका रंग काला था तथा यमुना-तट के द्वीप में पैदा हुए थे, इसलिए उन्हें कृष्ण-द्वैपायन भी कहते हैं।

पराशर के पुत्र ने देखा कि हर युग में धर्म का एक चरण नष्ट होता जा रहा है। मनुष्यों की आयु निशिदिन घटती जा रही है तो उन्होंने ब्राह्मणों की भलाई तथा ब्रह्मवेद की रक्षा के लिए वेद का व्यास अर्थात् भाग किया। एक-एक वेद को चार भागों में बाँटा। इस व्यास के करने के नाते इनका नाम वेदव्यास पड़ा। व्यासजी ही महाभारत के भी रचनेवाले हैं, जो पाँचवाँ वेद कहलाता है। वेदव्यासजी ने चारों वेदों एवं महाभारत को अपने पुत्र शुकदेव तथा चार शिष्यों—सुमन्तु, जैमिनि, वैशम्पायन तथा पैल को सुनाया।

सत्यवती का विवाह विधिवत् शान्तनु से हुआ। जिनसे दो पुत्र उत्पन्न हुए। चित्रांगद और विचित्रवीर्य। विचित्रवीर्य राजा हुए। उनके अम्बिका और अम्बाला दो रानियाँ थीं। विचित्रवीर्य के भी कोई सन्तान न हुई। तब वंश चलाने के लिए सत्यवती ने अपने पुत्र व्यासजी का स्मरण किया और नियोग द्वारा व्यास ने माँ की आज्ञा से धृतराष्ट्र और पाण्डु दो पुत्र उत्पन्न

किये, जो कौरव-पाण्डव के नाम से ख्यात हुए। एक दासी के गर्भ से व्यास के ही वीर्य से धर्म के अवतार विदुर भी पैदा हुए। इस प्रकार व्यास ने पाण्डवों का वंश चलाया।

सगर चरित्र

पूर्व समय में हरेध्वज महाराज के वंश में ही राजा बाहु हो चुके हैं। शत्रुओं ने राजा बाहु का राज्य छीन लिया तो वे अपनी पत्नी के साथ वन को चले गये। वहाँ बुढ़ापे के कारण उनकी मृत्यु हो गई। उनकी पत्नी के उस समय गर्भ था। जब वह सती होने को तैयार हुई तो महर्षि औरव ने उसे गर्भ वचाने के लिए रोक दिया। जब उसकी सौतों को यह पता चला तो उन्होंने उसे गर (विष) दे दिया, परन्तु उस विष का गर्भ पर कोई प्रभाव न पड़ा और समय पर बालक का जन्म हुआ। गर पाने के कारण उसका नाम सगर पड़ा। सगर चक्रवर्ती सम्राट् हुए। उन्होंने तमाम यज्ञ किये और दिग्विजय की। एक समय महर्षि औरव के साथ राजा सगर अश्वमेध यज्ञ करा रहे थे। उस समय इन्द्र ने उनका घोड़ा चुरा कर छल करके उसे ले जाकर पाताल-लोक में कपिल मुनि के आश्रम पर बाँध दिया।

सगर के दो स्त्रियाँ थीं। सुमति और केशिनी। सुमति के साठ हजार उग्र प्रकृतिवाले दानवी पुत्र पैदा हुए और केशिनी के केवल एक पुत्र पैदा हुआ, जिसका नाम असमंजस पड़ा और असमंजस के भी एक पुत्र हुआ, जिसका नाम अंशुमान हुआ। अंशुमान अपने दादा सगर की सेवा-शुश्रूषा में ही तल्लीन रहा करते थे।

जब सगर के अश्वमेध यज्ञ के घोड़े को इन्द्र चुरा ले गये तो सगर के साठ हजार पुत्र घोड़े को ढूँढ़ने निकले। सारी पृथ्वी छान डाली, पर घोड़े का पता न चला। इसके बाद पृथ्वी को खोदकर वे सब पाताललोक पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि घोड़ा भगवान् के अवतार कपिल मुनि के आश्रम पर बाँधा था। यह सब तो इन्द्र की ही करतूत थी। इन्द्र ने सगर-पुत्रों की बुद्धि भी हर ली। वे क्रोध में आकर मुनि पर दूट पड़े और उन्हें नाना प्रकार की गालियाँ देने लगे। इतने में कपिल मुनि की आखें खुलीं और उसी समय उनके शरीर से

अपने आप अग्नि की ज्वाला निकली और साठों हजार पुत्र जलकर भस्म हो गये। पुत्रों को न आया देखकर इधर सगर महाराज ने अपने नाती अंशुमान को घोड़े की खोज में भेजा। अंशुमान ने भी सारी पृथ्वी छान डाली। इसके बाद अपने साठ हजार चाचाओं द्वारा खोदे हुए मार्ग से वे भी पाताल-लोक में पहुँचे और देखा कि कपिल मुनि के आश्रम पर उनका ही घोड़ा बँधा हुआ है और कपिल भगवान समाधि में आँखें मूँदे हुए बैठे हैं। अंशुमान ने अपने भस्मीभूत चाचाओं के भस्म को भी देखा। अब अंशुमान भगवान कपिल मुनि की हाथ जोड़कर नाना प्रकार से स्तुति करने लगे। कपिलदेव की आँखें खुलीं और बहुत प्रसन्न हुए। कहा—‘बेटा ! यह तुम्हारा यज्ञ-पशु है, इसे ले जाओ और तुम्हारे चाचाओं का उद्धार केवल गंगाजल से ही होगा। अपनी तपस्या द्वारा गंगाजी को स्वर्गलोक से मृत्युलोक ले आओ और तब ये सभी पुत्र जी उठेंगे।’

अंशुमान कपिल मुनि को नमस्कार करके घोड़ा लेकर चले आये। राजा सगर ने उस यज्ञपशु (घोड़े) के द्वारा यज्ञ की शेष क्रिया समाप्त की और इसके बाद अपना राज्य अंशुमान को देकर तपस्या करने वन चले गये। इधर अंशुमान ने गंगाजी को लाने के लिए कई वर्षों तक घोर तप किया, पर सफल न हुए। अंशुमान के पुत्र हुए दिलीप। दिलीप ने भी वैसे ही तपस्या की, पर वे भी असफल रहे। दिलीप के पुत्र हुए भगीरथ। भगीरथ के तप से गंगाजी प्रसन्न हुईं और मृत्युलोक में आने को राजी हुईं। इस प्रकार मृत्युलोक में गंगाजी को लाने का श्रेय भगीरथ को है।

समुद्रमंथन कच्छप-अवतार

एक समय की बात है कि देवता लोग राक्षसों से हार रहे थे। राक्षस तो मरते न थे, क्योंकि उनके गुरु शुक्राचार्य अपनी सज्जीवनी विद्या द्वारा उन्हें जिला लिया करते थे। देवता लोग बहुत घबराये और ब्रह्माजी के पास पहुँचे। ब्रह्माजी ने भगवान विष्णु का ध्यान किया और विष्णु भगवान ने दर्शन दिया। देवताओं ने अपना कष्ट उन्हें सुनाया। भगवान ने कहा—‘इस समय देवताओं की हार और राक्षसों की विजय निश्चित है, इसलिए तुम लोग राक्षसों

से सन्धि कर लो और दैत्यों के सहयोग से अमृत प्राप्त करने की कोशिश करो । अमृत पीकर तुम लोग अमर हो जाओगे । इसके अलावा कोई दूसरा उपाय तुम्हारे कल्याण का नहीं है ।' विष्णु भगवान की बात मानकर सब देवताओं ने दैत्यों से संधि कर ली । अब अमृत की खोज में विचार करने लगे तो विष्णु भगवान ने कहा— 'घास-फूस और ओषधियाँ ले जाकर समुद्र में डालो और मन्दराचल की मथानी तथा वासुकि नाग की नेति (रस्सी) बनाकर दैत्यों सहयोग से समुद्र का मंथन करो, तभी अमृत मिलेगा ।

अब क्या था । देव-दानव सभी अमृत के लिए इच्छुक थे ही । मन्दराचल उखाड़कर लाया गया । वासुकि से प्रार्थना की गयी और उनको उसमें लपेटा गया । पूरी तैयारी हो चुकी । भगवान विष्णु ने भट से मुँह की ओर वासुकि को पकड़ लिया तो सभी देवता उधर ही लग गये । पर दैत्यों ने पूँछ की ओर पकड़ना स्वीकार न किया । इसपर देवगण ने मुँह छोड़कर पूँछ पकड़ ली और दैत्यों ने मुँह की ओर पकड़ा । मंथन प्रारम्भ हो गया ।

विष्णु भगवान ने देखा कि मन्दराचल पानी के भीतर डूबता जा रहा है और परिश्रम व्यर्थ हो रहा है । तो उन्होंने एक अनन्त लम्बाई चौड़ाई का कच्छप रूप धारण कर लिया और पानी में प्रवेश कर मन्दराचल को अपनी पीठ पर उठा लिया । अब मंथन वेग से होने लगा । जल-जीव घबरा उठे । समुद्र-मंथन से इस प्रकार क्रमशः चौदह रत्न मिले ।

सबसे पहले कालकूट नाम का विष निकला, जिसे देवताओं की प्रार्थना से शंकर भगवान ने पान कर लिया । इसके उपरान्त कामधेनु प्रकट हुई, जिसे ऋषियों ने लिया; उच्चैःश्रवा घोड़ा, जिसे बलि ने लिया; फिर ऐरावत हाथी निकला, जिसे इन्द्र ने लिया; तत्पश्चात् कौस्तुभ मणि, जिसे स्वयं भगवान विष्णु ने ग्रहण किया । इसके अनन्तर लोगों को मुँहमाँगी वस्तु देनेवाला कल्पवृक्ष निकला; फिर अप्सराएँ प्रकट हुईं; इसके उपरान्त साक्षात् लक्ष्मी देवी ने दर्शन दिया, जिन्होंने भगवान को वरण किया । पुनः वारुणी देवी अर्थात् सुरा प्रकट हुईं, जिसे दैत्यों ने लिया; अब क्या था, साक्षात् भगवान के अंशावतार वैद्य धन्वन्तरि हाथ में अमृत का कलश लिये प्रकट हो आये । अमृत को देखते ही पुनः 'तू तू, मैं मैं' होने लगी । देव और दानव पुनः

लड़ने लगे कि 'मैं लूँगा'। भगवान ने देखा कि दैत्यगण तो बाजी मार ले जायँगे। तो उन्होंने अपनी माया फैलायी।

तुरन्त भगवान ने मोहिनी रूप धारण किया और हाव-भाव से दैत्यों को लुभाने लगे। दैत्यगण मुग्ध हो गये। भगवान ने हाथ में कलश लिया और देवताओं को अमृत पिलाने लगे। देवताओं ने अमृत पीया और तभी से सभी देव अमर हो गये।

सुदामा-चरित्र

सुदामा नाम के एक ब्राह्मण थे। ईश्वर की माया से वे इतने निर्धन और अकिंचन थे कि कभी भरपेट न भोजन जुटता था, न कभी वस्त्र ही। जिसके फलस्वरूप उनका तथा उनकी पत्नी का शरीर दुबला होकर केवल अस्थि-पञ्जर मात्र रह गया था। एक दिन उनकी पत्नी ने कहा—'आप प्रायः कहा करते हैं कि मेरे कृष्ण नाम के एक परम प्रिय मित्र हैं, जो द्वारिकापुरी के राजा हैं। जिनके इतने धनवान मित्र हैं, वे भी इस गरीबी में पड़े रहें? आप क्यों नहीं उन मित्र के पास एक दिन जाते? मेरा विश्वास है कि यदि आपके मित्र सच्चे हैं तो अवश्य आपके दुःख को अनुभव करेंगे और आपकी गरीबी को सदा के लिए दूर कर देंगे।' किन्तु सुदामा प्रायः पत्नी की बात को अनसुनी कर दिया करते थे।

महाभागवत में तो ऐसा जिक्र नहीं आया है, पर किंवदन्ती है कि सुदामा को कृष्ण के पास जाने में संकोच होता था। क्योंकि सुदामा ने कृष्ण के साथ एक बार छल किया था। एक समय जब कृष्ण और सुदामा संदीपनि गुरु के आश्रम पर शिक्षा ग्रहण कर रहे थे तो गुरुमाता ने एक दिन इन दोनों शिष्यों को समिधा (लकड़ी) लाने के लिए भेजा था। जाते समय माताजी ने थोड़ा-सा कच्चा चना बाँध दिया था कि भूख लगने पर चबा लेंगे। दुर्दैववश उस दिन बिना मौसम के ही प्रलयकारी वर्षा होने लगी, कठोर भूभावात और ओलों से असह्य सर्द पड़ रही थी। इसी प्रकार रात हो आई। पानी से बचने के लिए सुदामा-कृष्ण ने पेड़ों का सहारा लिया। एक पेड़ के नीचे सुदामा और एक के नीचे कृष्ण बैठ गये। उसी समय सुदामा ने अंधेरी रात में

चना चवाना शुरू किया। चना फूटने की आवाज सुनकर कृष्ण ने पूछा—
 'क्या चवा रहे हो भाई, हमें भी दो न।' सुदामा ने उत्तर दिया—'कुछ नहीं
 भाई, यह तो सर्दों के मारे दाँत कटकटा रहे हैं।' कृष्ण तो भगवान ही थे।
 सब बात जान गये। कहते हैं उसी समय कृष्ण ने उन्हें कह दिया था कि
 'तुम जिन्दगी भर दरिद्र ही रहोगे।' शायद उसी का परिणाम था कि सुदामा
 को पेट भर भोजन भी न मिल पाता था। और उसी मित्र-चोरी को याद करके
 सुदामा कृष्ण के पास जाने में हिचकते थे। महाभागवत में न जाने का कारण
 यह लिखा है कि सुदामा तत्व और ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण थे, वे धन-सम्पत्ति चाहते
 ही न थे। कुछ भी हो, कृष्ण के पास जाने में उन्हें हिचक अवश्य होती थी।
 किन्तु पत्नी के बहुत हठ करने पर वे किसी प्रकार तैयार हुए। पत्नी ने अपने
 पड़ोस की एक स्त्री से थोड़े से चावल माँगकर दुपट्टे में बाँध दिया। सुदामा
 वह पोटली लेकर नंगे पाँव और नंगे सिर रवाना हुए।

पैदल ही चल पड़े। रास्ता लम्बा था। काफी थक गये, पर करते ही क्या।
 किसी प्रकार द्वारिकापुरी पहुँचे। वहाँ महलों के सौन्दर्य, विस्तार और विशालता
 को देखकर चकित रह गये और यही न समझ सके कि किस द्वार से प्रवेश किया
 जाय। थोड़ी देर चिन्तित और सन्न खड़े रहे; फिर हिम्मत करके एक द्वारपाल
 से कहा—'जाकर कृष्ण से कहो कि सुदामा पांडे नाम के एक व्यक्ति आपसे
 मिलना चाहते हैं।'।

द्वारपाल ने जाकर कृष्ण भगवान को सूचना दी। 'सुदामा' नाम सुनते
 ही तो भगवान कृष्ण का हृदय गद्गद हो गया और वर्षों की पुरानी स्मृतियाँ
 बिजली की तरह याद आ गईं। प्रेमान्मत्त होकर नंगे पाँव ही दौड़ पड़े। द्वार
 पर देखा तो सुदामा पांडे सकपकाये से खड़े थे। दौड़कर भगवान ने सुदामा
 को अपनी भुजाओं में बाँध लिया। भगवान के नेत्र भर आये और उनसे
 भर-भर प्रेम के आँसू बहने लगे। वेग से सुदामा को भगवान अपने महल
 में लाये और सुदामा को राजगद्दी पर बैठाकर स्वयं नीचे भूमि पर बैठ गये।
 इसके पश्चात् भगवान ने स्वयं अपने हाथों से सुदामा का चरण धोया।
 अन्य है भगवान की महिमा ! जिन भगवान की एक भूलक प्राप्त करने के लिए
 बड़े-बड़े तपस्वी, ऋषियों और मुनियों ने अपना शरीर गला डाला और तब भी

जिनका दर्शन कठिन था, वहीं भगवान अपने मित्र सुदामा का चरण अपने हाथों से धो रहे हैं ।

सुदामा की इस प्रकार सेवा करके उन्हें नाना प्रकार का भोजन कराया और सन्तुष्ट करके कृष्ण भगवान मीठी-मीठी बातें करने लगे । इसी समय भगवान ने सुदामा से पूछा कि—‘मित्र, भाभीजी ने कुछ भेंट तो अवश्य दी होगी, उसे आप आगे बढ़ाइये ।’ सुदामा उस पोटली को जान-बूझकर छिपाते जाते थे । कृष्ण ने बात जान ली और झपटकर पोटली छीन ही तो ली । उतावली के साथ उसे खोलकर एक बड़ा-सा फंका लगाया । रुक्मिणी आदि रानियाँ भगवान के इस कौतुक को देखकर चकित हो रही थीं । जैसे ही भगवान ने दूसरी मुट्ठी चावल की उठायी साक्षात् लक्ष्मी के रूप में रुक्मिणी ने भगवान का हाथ पकड़ लिया और कहा—‘सब न दे डालिये, कुछ रहने भी दीजिये ।’

उस एक मुट्ठी का मतलब था कि भगवान ने एक लोक परोक्ष रूप से सुदामा को दे डाला । इसीलिए ‘सुदामा के तन्दुल’ एक लोकविख्यात कथा हो गई है । इस प्रकार भगवान की कृपा प्राप्त कर सुदामा को बड़ा आनन्द हुआ । बड़े आनन्द से कुछ दिन तक द्वारिकापुरी में रहे, इसके बाद सुदामा अपने घर लौटे । संयोग ऐसा कि जिस रूप में सुदामा भगवान के यहाँ गये थे, वैसे खाली हाथ घर लौटे । न सुदामा ने अपने मित्र से कुछ माँगा और न भगवान ने कुछ दिया ही । रास्ते भर सुदामा अपनी स्त्री पर मन ही मन कुढ़ते हुए चले आये । सोचने लगे—‘स्त्री का कहना मानकर हम यहाँ आये, पर सारी आशाओं पर पानी फिर गया । इतना कष्ट सहा और हर्ब किया, पर मिला कुछ नहीं । आखिर वह देता क्या ? वही सदा का माखन-चोर, दूसरों का दही तक जब वह खा जाता था तो आज राजा हो जाने से क्या उसका दिल बदल जायगा ? शेर की खाल ओढ़कर कोई जानवर शेर नहीं बन सकता’” ।’ इस प्रकार सुदामा नाना प्रकार की कल्पनाएँ कृष्ण एवं अपनी नादान स्त्री के विरुद्ध करते-करते अपने गाँव पहुँचे । गाँव में आये तो देखा कि उनका घर ही नदारद ! उस भोपड़ी के स्थान पर एक राजसी महल खड़ा है । घोड़े और हाथी चिग्घाड़ रहे हैं । नौकर-चाकरों की भीड़-भाड़ है ।

चारों ओर चहल-पहल है। सुदामा जी अब और परेशान हुए और सोचने लगे—‘आधी छोड़ सारी को धावे, आधी मिले न सारी पावे। गये थे दूबे बनने वन गये छब्वे। एक भोपड़ी ही तो थी। वह भी किसी राजा ने छीन ली। मेरे बाल-बच्चों की न जाने क्या दशा होगी।’ इसी विचार में पड़कर खड़े हो गये। मन ही मन अपने भाग्य को कोस रहे थे कि इतने में स्त्री ने आकर चरण छुआ और प्रार्थना की—‘नाथ ! घर चलिये।’ सुदामा इतने चकित थे कि स्त्री को पहचानने में ही कठिनाई होने लगी। मालूम हुआ जैसे वह कोई नाटक की स्त्री-पात्र हो, जो उनकी स्त्री के रूप में सामने आ गई हो। स्त्री के काफी प्रयत्न करने पर सुदामा ने उसे पहचाना। आखिर में महल के अन्दर गये। स्त्री ने उनकी विधिवत् आरती उतारी। सारा हाल कह सुनाया। भगवान की यह कृपा देखकर सुदामा मन ही मन अत्यन्त लज्जित हुए। निन्दगी भर का दारिद्र्य इस प्रकार दूर हुआ और अब सुदामा के घर साक्षात् लक्ष्मी का वास होने लगा। यह है भगवान की कृपा का ऐश्वर्य।

सुकन्या-च्यवन

सुकन्या मनुपुत्र राजा शर्याति की पुत्री थी। उसकी निष्ठा एवं पतिव्रता-धर्म की सराहना शास्त्रों में की गई है। एक दिन की बात है कि राजा शर्याति शिकार खेलने गये थे। सुकन्या भी कुतूहलवश साथ चली गई थी। घूमते-घूमते राजा महर्षि च्यवन के आश्रम के निकट पहुँच गये। सभी सैनिक एवं राजा का शिकार में मस्त थे। इधर सुकन्या ने देखा कि दीमकों की बाँधी का ढेर लगा है। उसमें दो छेद हैं और उन छेदों में जुगनू की तरह चमक दिखाई पड़ रही है। ‘सुकन्या ने कुतूहलवश कि वह क्या है, एक काँटा उठाकर दोनों छेदों को वेध दिया। दोनों छिद्रों से खून की धार बहने लगी। सुकन्या डर के मारे सूख गई। इधर राजा के सैनिकों का मलमूत्र रुकने लगा। राजा को यह देखकर बड़ी चिन्ता हुई और विचार कर कहने लगे—‘तुम लोगों ने च्यवन ऋषि को अवश्य सताया होगा। उसीका यह दुष्परिणाम है।’ इतने में सुकन्या ने डर कर सारा वृत्तान्त सुनाया। राजा के तो होश उड़ गये। अपनी कन्या के सहित ऋषि के पास पहुँचे और नाना

प्रकार की स्तुति द्वारा ऋषि को प्रसन्न करके बोले—‘महाराज, क्षमा कीजिये’। ऋषि ने क्षमा कर दी किन्तु ऋषि का अभिप्राय जानकर राजा ने अपनी कन्या को च्यवन ऋषि की सेवा में अर्पित कर दिया। सुकन्या अब ऋषि की सेवा पति के रूप में करने लगी।

एक दिन दोनों वैद्यराज अश्विनी कुमारों का उस आश्रम पर पदार्पण हुआ। ऋषि ने उन अश्विनी कुमारों से अनुरोध किया कि वे ऋषि को युवावस्था प्रदान करें। अश्विनी कुमारों ने च्यवन ऋषि को एक कुण्ड में नहलाकर उन्हें जवानी एवं सौन्दर्य प्रदान किया। अब क्या था। अब तो च्यवन ऋषि को पूर्ण युवावस्था प्राप्त हो गई। अब सुकन्या के साथ भोग करने लगे। सुकन्या ने भी मुनि को अपनी सेवा और धर्म द्वारा काफी प्रसन्न रखा।

सती-पार्वती

सतीजी ब्रह्मा के बेटे प्रजापति दक्ष की पुत्री एवं भगवान शंकर की पत्नी थीं। शंकर के चरणों में उनकी अगाध भक्ति थी और शंकर का भी सती पर अमित स्नेह और प्रेम था। भगवान शंकर ईश्वर के अनन्य और प्रिय भक्त थे। एक समय की बात है कि भगवान शंकर सती के साथ जंगल में विहार कर रहे थे। उसी समय तपस्वी-वेष में राजकुमार राम और लक्ष्मण सीता की खोज में जंगल में इधर-उधर विचरण कर रहे थे। शंकरजी त्रिकालदर्शी और सर्वज्ञ अन्तर्यामी थे ही। उन्होंने राजकुमारों को श्रद्धापूर्वक विनत मस्तक से प्रणाम किया तथा उनकी नाना प्रकार से स्तुति की। सती को शंकर का यह कौतुक देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने शंकरजी से इसका रहस्य पूछा। शंकर ने बताया कि वे तपस्वी साक्षात् भगवान विष्णु थे, जो लीला करने के लिए अवतरे थे और अपनी भार्या की तलाश में घूम रहे थे, इसीलिए उन्होंने उन्हें प्रणाम किया। सती को सर्वेश्वर भगवान की इस लीला पर विश्वास न हुआ। उन्हें मोह-सा हो गया। सती ने भगवान की परीक्षा लेने की ठानी। सती की यह मंशा देखकर शंकर बड़े विस्मित हुए, पर करते क्या! होनी तो होकर ही रहना चाहती थी। उन्होंने सोचा “होइहैं वही जो राम रचि राखा, को करि

तर्क बढ़ावै शाखा ।” इसलिए शंकरजी ने सती की परीक्षा की धारणा पर कोई आपत्ति न की ।

सतीजी आगे बढ़ीं और सीताजी का रूप धारण करके राम-लक्ष्मण के मार्ग में होकर धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगीं । लीलामयी मनुष्य-वेशधारी भगवान् राम ने तो सब कुछ जान लिया । उन्होंने सती को नमस्कार किया और विनम्र होकर पूछा ‘कहिये, भगवान् शंकर यहाँ हैं, जो आप अकेली ही वन में घूम रही हैं ।’ राम की यह वाणी सुनकर सतीजी अत्यन्त लज्जित हुईं । भयभीत होकर सतीजी सोचने लगीं कि—‘मैंने पति का कहना न मानकर अपनी अज्ञतावश बड़ा अनर्थ किया । अब महेश को जाकर क्या उत्तर दूंगी ?’ इधर भगवान् ने देखा कि सती के मन में अधिक सन्ताप और दुःख है तो उन्होंने अपना कुछ प्रभाव प्रकट रूप से दिखाना चाहा । सती ने देखा कि राम, लक्ष्मण और सीता एक मार्ग से चले जा रहे हैं और उनकी सेवा में अन्यान्य देव और गन्धर्व लगे हैं । सती को और भी आश्चर्य हुआ । उन्होंने दूसरी ओर मुँह किया तो उधर भी भगवान् की वही लीला देखी । जिस ओर वे मुँह करतीं, उसी ओर भगवान् का वही दृश्य उन्हें दिखाई पड़ता था । सती अत्यन्त भयभीत और विस्मित होकर आँखें मूँदकर बैठ गईं । फिर जब आँखें खोलीं, तो कुछ दिखाई न पड़ा । तब सतीजी महेश के पास चलीं ।

शिवजी ने सतीजी से हँसकर पूछा—‘कहिये भगवान् की परीक्षा ली ?’ सती ने डर के मारे असली बात को छिपा लिया और कहा—‘नहीं, मैंने आपकी ही तरह प्रणाम कर लिया और वापस आ गई ।’ शंकरजी ने अपने ज्ञानबल से असलियत जान ली । अब तो शंकरजी बड़े धर्मसंकट में पड़ गये, क्योंकि सती ने सीताजी का रूप धारण कर रखा था तो अब उन्हें अपनी स्त्री के रूप में स्वीकार करना उनकी भगवद्भक्ति के विरुद्ध था । सीताजी तो जगत् की माता थीं; अब सीता का रूप धारण करनेवाली सती में पत्नीभाव कैसे देख सकते थे । शंकरजी ने भगवान् की उस माया को सिर नवाया, जिसने सती को यह सब कौतुक करने तथा झूठ बोलने को प्रेरित किया था । और मन में यह संकल्प कर लिया कि अब इस जन्म में सती से भेंट नहीं हो सकतीः “शिव संकल्प कीन मन माहीं, यहि तन सती भेंट अब नाहीं ।”

इस प्रकार सतीजी के कपट-छल के कारण शंकरजी ने उन्हें त्याग दिया और अपने धाम को चले गये। वहाँ पर उन्होंने समाधि लगा ली। सतीजी भी पति के त्याग तथा अपने दुष्कर्म से अत्यन्त दुखी हुई और प्रभु से विनती करने लगी कि शीघ्र मृत्यु हो जाय और यह तन छूट जाय।

सत्तासी हजार वर्ष बाद शिवजी की समाधि टूटी। सती ने शंकर के चरणों में नमस्कार किया। शंकर ने सती को बगल में आसन न देकर सामने आसन दिया और सरस मधुर भगवान राम की कथा कहने लगे।

इसी समय सती के पिता दत्त प्रजापति प्रजापतियों के नायक बनाये गये। उन्होंने यज्ञ की तैयारी की और तमाम देवता, गन्धर्व और किन्नर आदि को आमंत्रित किया। किन्तु शिव, ब्रह्मा और विष्णु को उन्होंने नहीं बुलाया। जब सती को यह बात मालूम हुई तो अपने पतिदेव शंकर का अपमान उन्हें बहुत ही खला। उन्होंने पिता के इस अभिमान का कारण पूछा तो शंकरजी ने बताया—‘एक दिन ब्रह्मा की सभा में हम लोग सभी देवता बैठे थे। उसी समय तुम्हारे पिता दत्त भी आये। उन्हें देखकर सब लोग खड़े हो गये, परन्तु हम, ब्रह्मा और विष्णु नहीं खड़े हुए। तभी से तुम्हारे पिता हम पर नाराज हैं और इसीलिए यज्ञ में हमें न बुलाकर अपमानित किया है। और इसी क्रोध के कारण उन्होंने तुम्हें भी भुला दिया है।’ अब तो सती के मन में खलबली मच गई और पिता के यहाँ बिना बुलाये ही जाने को आग्रह करने लगीं। शिवजी ने लाख समझाया कि बिना बुलाये किसी के यहाँ भी जाना अपमान की बात है। पर जब सती अपने आग्रह पर डटी रहीं तो शिवजी ने अपने गणों के साथ सती को दत्त के यहाँ भेज दिया।

सती यज्ञ में पहुँचीं। वहाँ उन्होंने देखा कि यज्ञ में सब देवताओं का भाग तो लगा है, पर शंकर का भाग न था। त्रिपुरारि का यह अपमान सती से न सहा गया और क्रुद्ध होकर सभी सभासदों को फटकारती हुई बोलीं—‘शंकरजी सर्वात्मा, सर्वकल्याणकर्त्ता और सर्वपूज्य हैं। जहाँ उनका अपमान किया जाय, वहाँ सज्जनों को रहना ही न चाहिए। इसलिए यह यज्ञ पूर्ण नहीं हो सकता। मैं शंकरजी को हृदय में धारण कर अपना प्राण अभी त्याग देती हूँ।’ इतना कहते-कहते ही सतीजी अग्निकुण्ड में कूद पड़ीं और अपना शरीर

भस्म कर दिया। अब तो यज्ञ में हाहाकार मच गया और शिवगण उपद्रव मचाने लगे। इधर जब शिवजी को सती की मृत्यु का समाचार मिला तो उन्होंने वीरभद्र को भेजा, उसने दक्ष का यज्ञ विध्वंस किया। सती की वाणी सत्य हुई।

मरते समय सतीजी ने शिवजी को मन में धारण कर रखा था तथा सर्वेश्वर भगवान से मन ही मन संकल्प से यह वर माँगा था कि शिव भगवान के चरणों में जन्मजन्मान्तर में भी मेरा प्रेम बना रहे। इसी कारण से दूसरे जन्म में सतीजी गिरिराज महाराजा हिमांचल के यहाँ पार्वती रूप में जन्मी।

हिमांचल के यहाँ पार्वती के जन्म का समाचार सुनकर सर्वज्ञ नारदजी राजा के यहाँ पधारे। राजा ने कन्या को भगवान के चरणों में रखा और उसकी कुंडली का विवरण पूछा। नारद जी ने उसकी हस्तरेखाएँ देखीं और बोले—‘यह कन्या सर्वगुणसम्पन्न, सर्वसुलक्षण-सम्पन्न और पति को प्यारी होगी। संसार में इसकी पूजा होगी। इसका पतिव्रत-धर्म अटल रहेगा। यह शक्ति की देवी मानी जायगी। किन्तु इसमें दो-चार दोष भी हैं। इसे ऐसा ही स्वामी होगा, जो निर्गुण, मान-रहित, माता-पिता-विहीन, उदासीन, जटाधारी, योगी, विरक्त, नग्न, कामरहित, अमंगल वेषधारी, तथा समस्त सन्देहों से रहित होगा।’ यह सुनकर माता-पिता को अत्यन्त दुःख तथा पार्वतीजी को अत्यन्त हर्ष हुआ। हिमांचल की पत्नी मैना के दुःख की तो सीमा नहीं रही। हिमांचल ने उसे समझाया कि नारद की वाणी असत्य नहीं हो सकती और न भाग्य के लेख को कोई मिटा सकता है। इसीलिए अब संतोष ही करना पड़ेगा।

इधर पार्वती के मन में भगवान भोले शंकर के प्रति प्रीति जाग्रत हो उठी। मनही मन शंकर को पति रूप में प्राप्त करने की लालसा बढ़ने लगी। नारदजी ने हिमांचल को सुझाया कि पार्वती के होनेवाले पति के सभी लक्षण भगवान शंकर में पाये जाते हैं। इसलिए शंकर के साथ ही यदि पार्वती का विवाह हो तभी उसका भाग्य सुधर सकता है। किन्तु भोले शंकर को पाना सरल नहीं है, इसलिए पार्वती अपनी कठोर तपस्या द्वारा ही उन्हें प्रसन्न करें, तभी वे मिल सकते हैं। बात सब को अच्छी लगी।

पौराणिक कथायें

१४४

समय आने पर पार्वती जी तपस्या करने चल पड़ीं। जंगल में जाकर पार्वती ने हजारों वर्ष तक कठोर व्रत, उपवास, फलाहार, नियम, संयम आदि का पालन करती हुई तपस्या की और अपना शरीर गलाकर क्षीण कर डाला। उसकी तपस्या सफल हुई और उसी समय आकाशवाणी हुई, “पार्वती, तुम्हारी तपस्या सफल हुई, अब तुम्हें त्रिपुरारि अश्वश्रु मिलेंगे। ऐसी तपस्या आज तक किसी ने न की थी। माता-पिता के बुलाने पर अब तुम घर चली जाना। सप्तर्षि तुम्हारे पास आवेंगे, तो समझना कि शंकरजी अवश्य ही मिलेंगे।” इस आकाशवाणी को सुनकर पार्वती का मन आनन्दविभोर हो उठा।

इधर भगवान् विष्णु (श्रीरामचन्द्रजी) ने शंकरजी को नाना प्रकार से समझाकर पार्वती को स्वीकार करने का सुझाव दिया। उन्होंने विस्तार से पार्वती के पूर्वजन्म, और इस जन्म की तपस्या आदि का वर्णन किया। शिवजी तैयार हुए। सप्तर्षियों को पार्वती की परीक्षा लेने को भेजा। सप्तर्षियों की परीक्षा में पार्वती सफल हुई। इसके बाद नारद तथा ऋषियों ने हिमांचल को पार्वती के घर लौटाने तथा विवाह की तैयारी करने का आदेश दिया। हिमांचल पार्वती को घर लाये और पार्वती के विवाह की तैयारी करने लगे।

सभी तैयारियाँ सम्पन्न होने लगीं। हिमांचल ने अनुपम मण्डप और चँदोवा सजाया। इधर सभी देवता शंकर के पास पहुँचे। उन्होंने उनका-पार्वती का विवाह देखने की अनुमति तथा अवसर प्राप्त करने की प्रार्थना की। शंकरजी ने कहा—ऐसा ही होगा। शिवगण शंकर जी का दूल्हा होचित शृङ्गार करने लगे। साँपों का मुकुट, साँपों का कंकड़, साँपों का कर्णकुण्डल, साँपों का ही यज्ञोपवीत, गले में मनुष्य के मुण्डों की माला, शरीर भर में भस्म, बाधाम्बर वस्त्र, मस्तक पर चन्द्रमा, सिर पर गंगा, गले में विष, तीन नेत्र, हाथों में त्रिशूल—इस प्रकार से दूल्हा शंकरजी सजाये गये और नन्दी बैल पर चढ़े। अमंगल वेषधारी कृपालु शंकर का यह रूप देखकर देवांगनाएँ हँस-हँस कर कहने लगीं कि इस दुलहे के योग्य तो दुलहिन इस जग में नहीं है। यह तो रहा दूल्हा का रूप। अब बारात का दर्शन कीजिये। शिवजी के दूत बराती बने। किसी के मुख ही नहीं, किसी के कई मुख, कोई बिना हाथ-पाँव का ही और किसी के अनगिनती पाँव एक ही शरीर में, किसी के एक भी नेत्र नहीं तो

किसी के अनेक नेत्र, कोई अत्यन्त दुबला-पतला नन्हा सा तो कोई अत्यन्त विशालकाय मोटा-ताजा, कोई म्लेच्छ दुर्गन्ध वाला था तो कोई अत्यन्त सुन्दर और दिव्य, सब भयंकर आभूषण पहने, हाथ में खोपड़ी लिए, ताजा खून शरीर पर लपेटे, किसी का मुख गधे का, किसी का कुत्ते का, किसी का सियार का, किसी का सुअर का था। इसी प्रकार अनेक भूत, प्रेत, पिशाच और योगिनियों की गिनती न थी। इस प्रकार तो था वीभत्स रूप बरातियों का। सभी भूत-प्रेत नाचते-गाते हाहाकार मचाते चले जाते थे। जैसा दूल्हा था, उसी प्रकार बारात भी सज गई थी। इसी प्रकार हाहाकार मचाती हुई बारात हिमांचल प्रदेश पहुँची।

इधर हिमवान ने पर्वत, नदी, तालाब, बावली आदि सबको आमंत्रित कर रखा था। सभी इच्छानुरूप सुन्दर वेष धारण करके अपनी स्त्रियों सहित पधारे थे। नगर-निवासी, हिंती-संधंधी तथा पास-पड़ोस के लोग एकत्र हो गये थे। सभी सजे-धजे और अलंकृत थे। इस प्रकार अगवानी के लिए खड़े थे। पहले तो कन्या पक्ष वालों ने बारात में विष्णु भगवान तथा देवता समाज को देखा। अत्यन्त हर्षित हुए, पर जैसे ही शंकर भगवान के रूप तथा उनके बरातियों को देखा तो एकाएक भयभीत हो उठे और डरकर सबके सब जहाँ के तहाँ भगे। नगर में भगदड़ और हाहाकार मच गया। घरों के दरवाजे और खिड़कियाँ बन्द हो गईं।

खैर, शंकरजी की महिमा को जानकर सबको सन्तोष हुआ और किसी प्रकार बारात ठहराई गई। संस्कार-कर्म प्रारम्भ होने लगे। किन्तु जब शिवजी मण्डप में पहुँचे और परछुनी आदि होने लगी तो उनके रूप को देखकर स्त्रियाँ अत्यन्त डर गईं और सब भाग कर अपने घरों में जा घुसीं। मैना को यह सब कौतुक देखकर बड़ा ही दुख हुआ और उन्हें नारदजी की भविष्यवाणी याद होने लगी। अत्यन्त शोकाकुल होकर उन्होंने पार्वती को बुलाया और रोने लगीं, 'बेटी, तेरा भाग्य फूट गया है, जो तुझे ऐसा पागल और अमंगल पति मिला। मुझे भी तेरा यह दुर्भाग्य देखने को मिल रहा है। अब मैं क्या करूँ।' पार्वती ने समझाया, 'माताजी, मेरे भाग्य में जब ऐसा ही पति लिखा था तो कोई क्या कर सकता है। इसलिए इसपर आप तनिक भी सोच न करें।' १० पौ. क.

परिवार की यह दशा देखकर नारदजी पहुँचे और हिमांचल तथा मैना को पार्वती के पूर्वजन्म की कथा विस्तार से सुनायी। नारद के मुँह से पार्वती के पूर्व जन्म का इतिहास सुनकर माता-पिता का दुःख दूर हुआ और सारे नगर में यह समाचार फैल गया। तब मैना और हिमांचल ने पार्वती को सती पार्वती और शिव की स्त्री समझकर उनकी चरण-वन्दना की। पार्वती ने भी मन ही मन शिव की स्तुति की। पार्वती की स्तुति और मन की बात समझ शंकर ने दिव्य और अनुपम सुन्दर रूप धारण किया। शिवजी सौन्दर्य के आदर्श माने जाते हैं। इस प्रकार विधिवत् शिव-पार्वती का विवाह हुआ और पार्वती का शिव के चरणों में जन्म-जन्मान्तर प्रीति का संकल्प सत्य हुआ। परम कल्याण-मय भगवान शंकर की जय !!

सावित्री-सत्यवान

सावित्री मद्र देश के राजा अश्वपति की इकलौती पुत्री थी। पिता और माता उसे पुत्र की भाँति मानते थे। प्राचीन समय में भारतीय कन्याओं पर पर्दा का प्रभाव न था। वे स्वतन्त्र होकर इच्छानुसार विचरण किया करती थीं। सावित्री भी उसी प्रकार स्वतन्त्र थी। वह अनुपम सुन्दरी, पवित्र, दिव्य एवं सदाचारिणी थी। उसका आचरण बर्फ के समान पवित्र था। कोई भी पुरुष उसकी ओर क्लुषित दृष्टि से नहीं देख सकता था। उसके चेहरे से ऐसा दिव्य तेज झलकता था कि यदि मलीन भावनावालों की भी निगाह उस पर पड़ती थी तो उनकी प्रवृत्तियाँ भी सुधर जाती थीं। कहने का तात्पर्य यह कि वह साक्षात् देवरूपिणी एवं सर्व-गुण सम्पन्न कन्या थी।

प्रायः सावित्री अपनी सहेलियों के साथ फल-फूल चुनने जंगल में जाया करती थी और इस प्रकार जंगलों में ऋषि-मुनियों के आश्रम में भी विचरण किया करती थी। सभी ऋषि-मुनि उससे परिचित हो गये थे तथा उसे अच्छी-अच्छी शिक्षा दिया करते थे। एक दिन सावित्री नित्य की भाँति वन में गई। उसने देखा कि ऋषिकुमार खेल रहे थे। उनमें उसने देखा कि एक ऐसा युवक-कुमार था, जो चन्द्रमा के समान सुन्दर था। उसका शरीर लम्बा, गठीला और स्वस्थ था। चेहरे से राजसी तेज टपक रहा था।

युवावस्था एवं आकर्षक व्यक्तित्व था। उसके सौन्दर्य को देखते ही सावित्री का चित्त विचल गया। सावित्री काफी देर तक निर्निमेष उसके रूप को निहारती रह गई। उसका हृदय एकदम हाथ से निकल गया। उस युवक की आँखें भी सावित्री की आँखों से मिल गईं। चार आँखें और दो दिल एक हो गये। इस एकाकार से दोनों ही अपना-अपना दिल लुटा चुके।

इसके बाद सावित्री एक मुनि के आश्रम पर गई और उस युवक का परिचय पूछा। मुनि महोदय कहने लगे—‘बेटी, वह ऋषिकुमार नहीं है। वह तो शल्य प्रदेश के राजा द्युमत्सेन का राजपुत्र है। द्युमत्सेन बड़े धर्मात्मा और प्रजाप्रिय राजा थे। दुर्भाग्य से उनकी दोनों आँखें जाती रहीं। इससे लाम उठाकर शत्रुओं ने उनका राज्य छीन लिया और उन्हें देश से निकाल दिया। वही राजा इस वन में ऋषि के रूप से रह रहे हैं। यह उन्हीं का बेटा है और इसका नाम सत्यवान है।’ सत्यवान को राजकुमार जानकर तथा अपना दिल उसकी ओर खिंचा जानकर सावित्री ने मन ही मन संकल्प कर लिया कि वह उसे ही अपना पति बनायेगी। इसी संकल्प को मन में छिपाये हुए सावित्री घर लौटी।

घर आकर उसने पूरा वृत्तान्त अपनी माँ को सुनाया। माँ ने वह घटना राजा अश्वपति को सुनायी। अश्वपति बड़े धर्म-संकट में पड़ गये और विचारने लगे कि यह सम्बन्ध कैसे सम्भव हो सकता है। कोई भी राजा अपनी कन्या पदच्युत और अकिंचन व्यक्ति को नहीं दे सकता। इसी समय अकस्मात् महर्षि नारद आ पधारे। राजा ने नारदजी का समुचित आदर करके उन्हें गद्दी पर बैठाया। कुशल-क्षेम का आदान-प्रदान हुआ। इसी समय ‘सावित्री वहाँ आ पहुँची। नारदजी ने सावित्री का परिचय और उसकी वैवाहिक अवस्था आदि के बारे में पूछा।

राजा ने पूरी घटना कह सुनायी। सत्यवान का नाम सुनते ही तो नारदजी का माथा सिकुड़ गया और बोले, ‘तब तो सावित्री बड़ा अनर्थ कर रही है। मुझे ठीक मालूम है कि सत्यवान के भाग्य में लिखा है कि आज से ठीक एक वर्ष के अन्त में सत्यवान की मृत्यु हो जायगी। इस होनहार को कोई सेट भी नहीं सकता।’ यह अशुभ समाचार सुनते ही राजा और रानी के पैरों

के नीचे से मानो पृथ्वी खिसक गई। सावित्री को भी यह अद्भुत बात सुनकर अचानक धक्का-सा लगा। किन्तु करती क्या, उसने तो अपना दिल सत्यवान को पहले से ही अर्पित कर डाला था। एक बार दी हुई वस्तु वापस कैसे लेती? महर्षि नारद, राजा और रानी—सभी लगे सावित्री को समझाने और वैधव्य जीवन की यातनाओं को सामने रखने। लाख प्रयत्न किया, पर सावित्री अडिग रही और कहा—“यदि मेरे भाग्य में वैधव्य ही लिखा है तो उसे कौन मेट सकता है? जैसे सत्यवान की मृत्यु नहीं टाली जा सकती, ठीक वैसे ही मेरा कर्म-लेख भी नहीं मिटाया जा सकता। मेरे भाग्य में जो लिखा है, उसे मुझे हँसते-हँसते भेलना ही होगा। भारतीय नारी पति का वरण एक ही बार करती है। मैं सत्यवान को हृदय से निष्ठा के साथ वरण कर चुकी हूँ, अब कैसे कर्तव्य से च्युत हो सकती हूँ?” सावित्री के तर्कों का किसी के पास कोई उत्तर न था। सबकी बोलती बन्द हो गयी। नारद ऐसे ब्रह्मज्ञानी भी उसके तर्कों के सामने मात खा गये। राजा-रानी को भी दिल दबाकर सावित्री की बात माननी पड़ी। नारदजी अति प्रसन्न हुए और सावित्री को पतिव्रता-धर्म का उपदेश तथा नाना प्रकार से आशीर्वाद देकर अपने लोक चले गये।

सावित्री का संकल्प सत्य हुआ। सावित्री और सत्यवान का विधिवत् विवाह हुआ। सावित्री विदा होकर पति के घर आई। यहाँ आकर उसने अपने सभी ठाट-बाट और साज-शृङ्गार को फेंक दिया। उसने भी आश्रम की तपस्विनी की भाँति सादा जीवन बिताना प्रारम्भ किया। सासु, श्वसुर और पति की सेवा में ही दिन-रात व्यस्त रहने लगी। इस सेवा में उसे महलों से भी अधिक सुख मिलने लगा। सेवा का अमृत पान कर सावित्री की आत्मा सुखी होती रहती थी, किन्तु सत्यवान की मृत्यु की बात उसके मन में सदा सुई की भाँति चुभा करती थी। एक-एक दिन गिन-गिनकर बिताती हुई वर्ष के अन्तिम दिन की बाट जोहने लगी।

सत्यवान का नित्य का व्यवसाय था कि प्रातः हाथ में कुल्हाड़ी और टोकरी लेकर लकड़ी काटने चले जाते और शाम को लौटते। यही उनकी जीविका का साधन था। दिन तो बैठा रह नहीं सकता। आखिर साल का अन्तिम दिन आ ही पहुँचा। उस दिन का महत्त्व तो सावित्री ही जानती थी।

क्योंकि सत्यवान की मृत्यु के सम्बन्ध में सावित्री के अतिरिक्त और किसी को कोई खबर न थी। शाम का समय हुआ। सत्यवान उस दिन, दिन में वन नहीं गये और भावी की प्रेरणा से शाम को जंगल जाने को तैयार हुए। आज सावित्री ने भी सत्यवान के साथ जाने का निश्चय किया। सासु-श्वसुर ने रोका, पर वह न मानी और कहने लगी 'मैंने तो विवाह के दिन ही पति के साथ रहने का संकल्प कर लिया है।' आखिर अनुमति मिल ही गई। वह सत्यवान के साथ जंगल पहुँची।

सत्यवान लकड़ी काटते और सावित्री फूल चुनती। अँधेरा हो गया। एकाएक सत्यवान के हाथ से कुल्हाड़ी गिर पड़ी और सिर में असह्य दर्द होने लगा। सावित्री ने समझ लिया कि यह घड़ी मृत्यु की ही है। उसने सत्यवान को अपनी गोद में लिटा लिया और आराम करने का अनुरोध किया। सत्यवान बात की बात में अचेत हो चले।

इतने में सावित्री ने देखा कि एक व्यक्ति असीम तेज से दहकता हुआ स्वर्णमुकुट पहने, एक हाथ में दण्ड और दूसरे में एक फन्दा लिए धीरे-धीरे सत्यवान की ओर बढ़ रहा है। उसका काला भीमकाय शरीर बड़ा ही भयानक था। सावित्री के पूछने पर उसने उत्तर दिया—'मैं मौत का देवता यमराज हूँ। सत्यवान ऐसे राजा की आत्मा को लेने मैं स्वयं आया हूँ। जब जीव इस दुनिया से यमलोक जाने लगता है तो उसे रक्त और पीव की एक वैतरणी नाम की नदी को पार करना पड़ता है और नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। इसीलिए मैं आया हूँ कि सत्यवान की आत्मा आसानी से वैतरणी पार कर जाय और उसे कष्ट भी न भोगने पड़े।' इन शब्दों के साथ ही अँगूठे के बराबर सत्यवान की आत्मा को यमराज ने अपने फन्दे में बाँध लिया और चल पड़े। पीछे मुड़कर देखा तो पाया कि सावित्री भी उनके पीछे-पीछे चली आ रही है। यमराज ने उसे लौट जाने का आदेश दिया—'कि जहाँ मरकर लोग जाते हैं, वहाँ जीवित कोई भी नहीं जा सकता, इसलिए तुम लौट जाओ।' सावित्री ने उत्तर दिया—'यह मेरा परम कर्तव्य है कि मैं अपने पति के साथ ही रहूँ, चाहे वे सुख में हों, चाहे दुख में, चाहे मृत्युलोक में हों और चाहे यमलोक में हों। आप अपना कर्तव्य-पालन कीजिये और मुझे अपना

कर्तव्य-पालन करने दीजिये । सावित्री की बातों से यमराज अत्यन्त प्रभावित हुए और कहा कि 'तुम जो चाहो, वरदान माँग लो और लौट जाओ; पर मैं सत्यवान की आत्मा को नहीं वापस कर सकता हूँ, इसके अतिरिक्त तुम कुछ भी माँगो ।' तब सावित्री ने कहा 'मेरे श्वसुर की आँखें समाप्त हो गई हैं । आप कृपा करके उन्हें आँखोंवाला बना दीजिये और उनका राज्य शत्रु ने ले लिया है, वह भी उन्हें मिल जाय ।' यमराज ने 'तथास्तु' कहा और उसे लौटने का आदेश दिया । यमराज आगे बढ़े, किन्तु सावित्री फिर भी उनके पीछे चलती रही । यमराज ने रोका तो उसने कहा—'अच्छे लोगों की संगत से बढ़कर इस दुनिया में और कोई चीज नहीं है तो आप मुझे इस सत्संग से क्यों वंचित कर रहे हैं ।' यमराज ने परेशान होकर दूसरा वर माँगने को कहा । इस बार सावित्री ने माँगा—'मेरे पिता के पुत्र नहीं हैं, कृपया उन्हें सौ पुत्र प्रदान कीजिये ।' यमराज ने कहा, 'ऐसा ही होगा और अब तुम लौट जाओ ।' पर सावित्री अब भी न लौटी तो फिर यमराज ने वर माँगने का प्रलोभन दिया । किन्तु हर बार प्रतिबन्ध लगा दिया कि सत्यवान का जीवन नहीं मिल सकता था । इस बार देवता का संकेत समझकर सावित्री ने कहा—'हे यमराज ! आप अन्तर्यामी हैं, सबके मन की बात आप जानते हैं । अतएव आप मुझे भी सौ पुत्रों का वरदान दें ।' यमराज को किसी प्रकार सावित्री को वापस करना था ही, इसलिए इस बार भी उन्होंने 'तथास्तु' कह दिया । अब क्या था, सावित्री को घात मिल गई । पुनः जब यम ने उसे लौटने को कहा तो सावित्री ने कहा—'कृपया अब हमारा पति वापस कर दीजिये ।' यमराज ने रोव में कहा—'इसको तो मैं पहले ही कह चुका हूँ कि सत्यवान को नहीं वापस कर सकता हूँ ।' सावित्री ने विनम्र होकर मुस्करा कर कहा—'आपने मुझे सौ पुत्रों का वरदान दिया है । तो क्या बिना पति ही मेरे सौ पुत्र हो जायेंगे ?' अब तो यमराज का रोव टूट पड़ गया । दंग रह गये कि—मैंने यह क्या दे डाला ? सावित्री का तर्क सत्य ही था । यमराज को भी अपना वरदान सत्य ही करना था । क्या करते, बाध्य होकर सावित्री के सामने मात होना पड़ा । आखिर अन्त में फन्दा खोलकर यमराज ने सत्यवान की आत्मा को सत्यवान के हवाले किया । और कहा—'धन्य हो सावित्री ! तुम भारतीय

नारी और पातिव्रत धर्म की आदर्श हो ! मैं तुम्हारे पातिव्रत से अत्यन्त प्रसन्न हूँ और एक वरदान अपनी ओर से देता हूँ, कि तुम दोनों दम्पति चार सौ वर्षों तक आनन्दपूर्वक रहो ।'

अब क्या था । सावित्री सत्यवान के शरीर के पास आई, आत्मा को सीने पर रखा और सत्यवान उठ खड़े हुए । दोनों अपने घर वापस आये । इधर सावित्री के श्वसुर एवं सासु अत्यन्त चिन्तित हो रहे थे । सावित्री और सत्यवान ने उन्हें आकर सुख दिया ।

इस प्रकार सावित्री ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की । सावित्री के यश से सारा भारत और हिन्दू धर्म प्रभावित है । भारतीय नारियों के पातिव्रत-धर्म के सामने देवता और भगवान भी मात हो जाते हैं । इसी धर्म के नाते सावित्री का नाम अमर हो गया है । धन्य हो ऐसी नारी !!

सीता

सीता राजा जनक की अयोनिजा कन्या थीं । इनका जन्म पृथ्वी से हल की नोक से हुआ था । हल (फार) की नोक को 'सीत' कहते हैं, इसलिए इनका नाम सीता पड़ा । पुराणों में इनके जन्म की कथा इस प्रकार आई है ।

एक समय जनक के राज्य में भीषण सूखा पड़ा । प्रजा अन्न बिना मरने लगी । नाना प्रकार के यत्न किये गये, पर पानी न बरसा । तब पण्डितों तथा मंत्रियों ने राजा से प्रार्थना की कि यदि राजा सोने के हल से पृथ्वी को जोतें तो अवश्य वर्षा होगी । प्रजा के कल्याण के लिए राजा जनक कुछ भी करने को तैयार थे । राजा ने सोने का हल चलाना प्रारम्भ किया । हल की नोक एक घड़े में बँध गई । घड़ा निकाला गया तो उसमें से एक नवजात सुन्दर कन्या निकली । राजा जनक के कोई सन्तान भी न थी, अब वे परम प्रसन्न होकर कन्या को घर लाये । दो लाम एक साथ । पानी भी बरसा और राजा को सन्तान भी मिली । उस कन्या का नाम सीता रखा गया । सीता महापापी रावण के जन्म और उद्धार का कारण बनीं ।

सीता के जन्म में रहस्य था । एक समय रावण अत्यन्त अत्याचार कर रहा था । उसने ऋषियों-मुनियों, साधु-सन्तों और सज्जनों को सताना प्रारम्भ किया । वह सभी ऋषियों से कर वसूलने लगा । उसके अत्याचार से परेशान

ऋषि चिन्तामग्न हो चले थे। उसी समय रावण के दूत कर माँगने पहुँचे। परेशान ऋषियों ने अपना-अपना खून एक घड़े में बन्द करके दूतों को दे दिया। ऋषियों ने दूतों को सहेज दिया कि जैसे ही यह घड़ा खुलेगा, रावण का नाश हो जायगा। दूत घड़ा लिये रावण के दरबार में पहुँचे और ऋषियों का सन्देश भी सुनाया। रावण घबड़ा उठा और यह सोचकर कि इससे उन्हीं मुनियों का ही नाश हो, घड़े को सुदूर उत्तर दिशा में गड़वा दिया। संयोग से दूतों ने उसे विदेह में गाड़ दिया था। ऋषियों की वाणी तो भूठ हो नहीं सकती थी। उसी घड़े से जनकपुर में हल जोतते समय सीता का जन्म हुआ। और सीता के लिए ही रावण का नाश हुआ।

सीता के जन्म का एक और भी कारण है। महाभिमानी रावण एक समय घूमता हुआ एक जंगल में पहुँचा। उसने देखा कि एक परम सुन्दरी युवती तप कर रही थी। उसके रूप को देखकर रावण कामातुर हो उठा और उसे फुसलाकर उसका परिचय पूछा। युवती ने परम उदारतापूर्ण शब्दों में उत्तर दिया— 'मैं बृहस्पति के पुत्र कुशध्वज की पुत्री हूँ। मेरा नाम वेदवती है। मेरे सौन्दर्य पर मुग्ध होकर सभी देवता मुझे चाहने लगे पर पिताजी मुझे देवताओं को न देना चाहते थे। उनकी इच्छा थी मुझे साक्षात् भगवान विष्णु ही अपनी भार्या बनावें। इसी लालसा से पिता ने तपस्या करने का आदेश दिया है कि मैं अपनी तपस्या से भगवान को प्रसन्न करके उनकी पत्नी बनूँ।' रावण तो पापी था ही, उसने उसे बहकाया कि 'वह रावण की पत्नी होना स्वीकार करे। जब उसने रावण को फटकारा तो रावण ने उसपर बलात्कार करना चाहा और उसके बालों को पकड़ लिया। वेदवती का क्रोध जग उठा। उसके हाथ तलवार हो गये और उसने बालों को काट डाला। क्रोधावेश में आकर उसने रावण को शाप दिया— 'मैं तेरे सामने ही अभी भस्म हो जा रही हूँ और तुझे शाप देती हूँ कि मैं पुनः जन्म लेकर तेरी मृत्यु का कारण बनूँगी।' वही वेदवती सीता के रूप में जनक के यहाँ जन्मी है। इस प्रकार रावण की मृत्यु का सामान बनकर सीता ने जन्म लिया। त्रेतायुग में राम ने दशरथ के यहाँ अवतार लिया और उनकी शक्ति माया लक्ष्मी ने जनक के यहाँ जन्म लिया।

राजा जनक ने बड़े लाड़-प्यार से सीता का पालन-पोषण किया। इस प्रकार कन्या बड़ी और विवाह योग्य हुई। राजा जनक के पास उनके पूर्वजों से प्राप्त एक शिव-धनुष था। उस धनुष को उठानेवाला कोई वीर उस दरबार तथा उस क्षेत्र में न था। एक दिन सीता जी ने जनक के पूजा की सामग्री इकट्ठा कर उस धनुष के स्थान की भी सफाई की। सीता ने धनुष को उठाकर अलग रख कर उस स्थान की सफाई करके फिर उठाकर वहीं रख दिया। जब राजा जनक को यह विदित हुआ तो सीता की शक्ति पर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा कि सीता विवाह योग्य हो गई है, किन्तु यह इतनी बल-शालिनी है कि इसके योग्य वर मिलना ही कठिन है। कन्या से वर दूना ही चाहिये। तब जनक ने निश्चय किया कि जो राजा इस धनुष को चढ़ाकर तोड़ देगा, उससे ही सीता का विवाह होगा।

यह होनहार की प्रेरणा थी। स्वयंवर में अन्यान्य राजा आये और शक्ति आजमायी, पर धनुष किसी से भी टस से मस न हुआ। अन्त में दशरथ-पुत्र राम ने धनुष मँग किया और सीता का विवाह राम से हुआ। इस प्रकार भगवान की माया-शक्ति का भगवान से संयोग हुआ। भावी प्रेरणावश राम को वनवास हुआ। सीता भी राम के साथ वन गईं। यह सब भगवान की लीला थी।

वन में पहुँचकर भगवान ने सीता को अग्नि में प्रवेश करने का आदेश दिया और अग्निदेव को आदेश दिया कि एक नकली सीता असली सीता के बदले में दे दें। असली सीता ने अग्नि में प्रवेश किया और नकली सीता प्रकट हो आयीं, जिन्हें लेकर भगवान राम ने नर-लीला की।

जंगल में एक दिन राम, सीता और लक्ष्मण अपने आश्रम पर सुखपूर्वक बैठे थे। सीता ने देखा कि एक सोने का मृग आश्रम के निकट भटक रहा है। उसके स्वर्णिम सौन्दर्य को देखकर सीता का चित्त खिंच उठा। उन्होंने राम-चन्द्रजी से उसे मार लाने की प्रार्थना की। राम ने धनुष-बाण उठाया और आश्रम तथा सीता की रक्षा लक्ष्मण को सौंपकर मृग के पीछे दौड़े। थोड़ी देर बाद सीता ने सुना कि राम 'हा लक्ष्मण, हा लक्ष्मण' कह कहकर पुकार रहे हैं। सीता ने लक्ष्मण को आदेश दिया कि जाकर राम की सहायता करें,

पर लक्ष्मण ने उत्तर दिया, माताजी, भइया ने आपको मुझे सौंपा है, मैं किस पर आपको छोड़कर जाऊँ ।' सीता को लगा कि लक्ष्मण राम का हित नहीं चाह रहे हैं और मूढ़तावश उन्होंने बाण सरीखे व्यंग्य वचन कहा कि 'तुम चाहते हो राम का अनिष्ट हो जाय तो हम और भरत राज्य करें' स्त्रियों के लिए ऐसी बात स्वाभाविक हुआ करती है । बात लक्ष्मण को गोली-सी लग गई और न चाहते हुये भी उन्होंने धनुष-बाण उठाया और सीता से कहा 'मैं यह रेखा खींचे देता हूँ, आप कभी इस रेखा के बाहर न जाइयेगा । अगर कोई भी जीव आपका अहित करने के लिए इस रेखा को पार करके आयेगा, तुरन्त भस्म हो जायगा ।' इतना कहकर लक्ष्मण चल दिये ।

इधर रावण तो ताक में बैठा ही था । वह ब्राह्मण का वेष बनाकर आश्रम पर आया और भिक्षा माँगी । सीता ने रेखा के अन्दर से ही उसे भिक्षा देनी चाही । उस कपटी ब्राह्मण ने इनकार कर दिया कि वह बधी भिक्षा नहीं लेगा । अतिथि को लौटाना ठीक न समझकर सीता ने रेखा के बाहर आकर भिक्षा देना चाहा ही था कि ब्राह्मण अपना असली रावण का रूप प्रकट करके सीता को उठाकर भागा । उधर जब राम और लक्ष्मण कपट मृग मारीच को मारकर लौटे तो देखा कि आश्रम सूना पड़ा है । लगे विलाप करने और इधर-उधर ढूँढ़ने । इस प्रकार भगवान सर्वान्तर्यामी राम को भी स्त्री-वियोग सहना पड़ा । पुराणों में लिखा है कि राम को नारद ने शाप दिया था कि उन्हें स्त्री-वियोग से दुखी होना पड़ेगा । उस शाप का प्रसंग इस प्रकार है ।

नारद त्रिकालदर्शी इन्द्रियजित महर्षि थे । एक बार उन्हें अपनी इन्द्रिय-विजय पर बड़ा अभिमान हो चला । भक्त के अभिमान से उसकी क्षीणता होती है, इसलिए भगवान अपने भक्त में अभिमान नहीं आने देना चाहते । भगवान विष्णु ने नारद का गर्व चूर करना चाहा । उन्होंने अपनी माया से एक पूरा राज्य ही रच डाला । उस राजा के एक सुन्दर कन्या थी, जिसका स्वयंवर होनेवाला था । नारद ने उस कन्या के सौन्दर्य को देखा तो कामाहत हो गये और सीधे विष्णु भगवान के पास गये । नारद ने कहा— 'हे तात, मुझे ऐसा सुन्दर रूप दीजिये कि राजकुमारी मुझे ही वरण करे ।' भगवान ने कहा, 'ऐसा ही होगा ।' नारद बड़े प्रसन्न हुए कि उन्हें सौन्दर्य

मिल गया और स्वयंवर में पहुँचे । इधर भगवान विष्णु भी गुप्त वेश धारण करके स्वयंवर में पहुँचे । नारद बड़े गर्व के साथ बैठे थे और पूर्ण विश्वास था कि राजकुमारी उन्हें ही चुनेगी । जो ही नारद की ओर देखता, उनका चेहरा देखकर हँसने ही लगता । यह देख नारद बहुत विस्मय में पड़ गये कि बात क्या है । और स्वयंवर में राजकुमारी ने नारद की ओर मुँह किया तो उसे भी हँसी आ गई और मुँह फेरकर चली गई । उसने भगवान विष्णु के गले में जयमाल डाल दी । नारद को बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होंने जाकर पानी में अपनी सूरत देखी तो पता चला कि उनका चेहरा तो बन्दर का है । उन्हें विष्णु के इस मजाक पर बड़ा क्रोध आया और सीधे विष्णुधाम पहुँचे । रास्ते में ही भगवान विष्णु उसी कन्या के साथ जिसके लिए नारद को वह अपमान सहना पड़ा था, मिले । नारद ने उन्हें बिना सोचे-समझे शाप दिया कि 'स्त्री के लिए आपने मेरा यह अपमान किया और स्त्री से वंचित किया तो आपको स्त्री-वियोग-जनित कष्ट भोगना पड़ेगा ।' नारद के उसी शापवश भगवान राम को आज सीता का वियोग सहना पड़ रहा है ।

वानर रूपधारी देवताओं के सहयोग से सीता का पता चला । लंका का दहन हुआ और रावण मारा गया । सीताजी की पुनः अग्नि-परीक्षा हुई । लंका से लाने के बाद सीता को राम के आदेश से अग्नि में प्रवेश करना पड़ा । इस प्रकार अग्निदेव ने असली सीता को राम के हवाले किया और नकली सीता को वापस लिया । राम सीता और लक्ष्मण सहित अयोध्या वापस आये । राम का राज्याभिषेक हुआ । राम राज्य करने तथा प्रजा को सुख देने लगे ।

सीता के हरण से तथा राम के द्वारा पुनः सीता के ग्रहण के सम्बन्ध में नाना प्रकार की शंकाएँ प्रजा में उठने लगीं । लोग सन्देह करने लगे कि जो स्त्री इस प्रकार पराये राजमहल में इतने दिन रह चुकी है, वह भला कैसे पवित्र रह सकती है । प्रजा में हर प्रकार के लोग होते हैं । दुष्ट प्रवृत्तिवालों की ये शंकाएँ थीं । आखिर एक रजक ने कह ही डाला । एक धोबी की स्त्री एक दिन रिसियाकर घर से चली गई । रात भर बाहर रही, दूसरे दिन आई तो धोबी ने उसे दुतकारते हुए कहा, 'क्या मैं राम हूँ जो तुम्हें रख लूँगा ।'

मर्यादा पुरुषोत्तम राम यद्यपि जानते थे कि सीता पवित्र थीं पर लोकनिन्दा को हटाने के लिए उन्होंने भी सीता को घर से बहिष्कृत कर दिया और लक्ष्मण के साथ उन्हें पुनः जंगल में वाल्मीकि के आश्रम पर भेज दिया। उस समय सीता गर्भिणी थीं। समय आने पर सीता ने राम के समान तेजस्वी बालकों को जन्म दिया। बड़े का नाम कुश और छोटे का नाम लव रखा गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सीता के जीवन का प्रत्येक क्षण रहस्यमय था। जीवन भर उन्हें देवताओं का कार्य करने के लिए अग्निपरीक्षा ही देनी पड़ी। अन्त में वे अग्नि में तपाये हुए सोने की भाँति पवित्र निकलीं। जो कुछ उन्हें करना था और जिनके लिए उन भगवान की शक्ति लक्ष्मीजी ने जन्म लिया था, पूर्ण किया। अन्त को जिस पृथ्वी माता के गर्भ से उन्होंने जन्म लिया था, उन्हीं पृथ्वी अर्थात् रसातल में प्रवेश करके परमधाम प्राप्त किया।

सुलोचना

सुलोचना शेषनाग की कन्या का नाम था। उसका विवाह रावण के बेटे मेघनाद से हुआ था। वह सती-साध्वी और पतिव्रता की साक्षात् मूर्ति थी। मेघनाद से उसका सम्बन्ध अकस्मात् ही हो गया और अन्त में उसने अपनी इच्छा से मेघनाद का वरण किया। पुराणों में यह कथा इस प्रकार आई है।

मेघनाद ने घोर तपस्या करके ब्रह्मा से अन्यान्य वरदान प्राप्त कर लिया। अब वह मदमत्त होकर देवलोक में विचरने लगा। उसने इन्द्रादि देवताओं को मात कर दिया। इसी प्रकार विचरते हुए वह शेषनाग के लोक में पहुँचा। वहाँ उसने शेष की परम सुन्दरी कन्या सुलोचना को देखा। सुलोचना ने उसे देखा। चार आँखों के मिलने से दोनों का मन एक दूसरे की ओर आकर्षित हो उठा।

इधर शेषनाग को उसके विचरने का समाचार मिला। नागराज और मेघनाद में नोक-झोंक होने लगी। मेघनाद ने गर्व से उत्तर दिया 'मुझे मारने के लिए घोर तपस्या करनी पड़ेगी। मुझे वही मार सकता है, जो बारह वर्षों तक चारपाई पर न सोये, स्त्री-संग त्याग दे, नियम-संयम का व्यवहार करे।' शेषनाग ने संकल्प कर लिया कि वे यह सब तप मेघनाद को मारने के लिए

करेंगे। यह वैमनस्य तो हो गया पर सुलोचना ने अपना दिल मेघनाद को पहले ही दे रखा था। पतिव्रता होने के नाते उसने एक बार जब मेघनाद का वरण कर लिया तो अन्यथा कैसे हो सकता था। विदश होकर शेष को अपनी कन्या मेघनाद को दे देनी पड़ी। सुलोचना का वरण कर मेघनाद लंका आया। सुलोचना पूर्ण निष्ठा के साथ पति की सेवा करने लगी।

मेघनाद को मारने का संकल्प तो शेषनाग कर ही चुके थे, इसलिए शेषनाग ने लक्ष्मण के नाम से दशरथ के पुत्र और विष्णु भगवान के छोटे भाई के रूप में अवतार ग्रहण किया। राम-रावण युद्ध हुआ। लक्ष्मण अर्थात् शेषनाग ने पूर्व-संकल्प के अनुसार मेघनाद के मारने के लिए अपनी तपस्या और संयम पूरा किया और अन्त में घोर संग्राम के बाद मेघनाद का वध किया।

लक्ष्मण-मेघनाद युद्ध में जब मेघनाद का एक हाथ कट गया तो वह सीधे साध्वी सुलोचना के पास आया और सुलोचना को मेघनाद की भावी मृत्युसूचक दुर्घटना की खबर दी। उस भुजा ने लिखकर बताया कि सिर भगवान रामचन्द्र के पास है। सुलोचना पालकी पर चढ़कर भगवान के पास गई और पति का सिर लेकर सती हो गई।

सुषेण

सुषेण लंका में रहते थे और एक महा वैद्य थे। वे जाति के बन्दर थे। जब लक्ष्मण को शक्ति लगी और वे मूर्छित होकर मरणासन्न अवस्था में हो गये तब भगवान रामचन्द्र मनुष्यों जैसा विलाप करने लगे। उस समय विभीषण ने आकर बताया कि लंका में सुषेण नाम के वैद्यराज हैं। वे ही इस समय लक्ष्मण को बचा सकते हैं। हनुमानजी लंका भेजे गये और पूरे विस्तर सहित सुषेण को उठा लाये। उसने बताया—‘सुमेरु पर्वत पर संजीवनी वृत्ती है, उसी के आने से लक्ष्मण का कल्याण हो सकता है। परन्तु यदि वह वृत्ती सूर्य निकलने के पूर्व ही आ जाय तो। इस कार्य का करना भी हनुमानजी ही की सामर्थ्य के अन्दर था।

आदेश पाते ही हनुमानजी वायुवेग से चल पड़े। रात अधिक हो चली।

थी। हनुमान जी शीघ्र ही पर्वत पर पहुँच गये। सुषेण ने संजीवनी वृत्ती की पहचान बतायी थी कि वह सदा चमकती रहती है। जब हनुमानजी पर्वत पर पहुँचे तो देखा कि वहाँ सभी वृत्तियाँ चमक रही थीं तो पहचानना कठिन हो गया। यह सब मायावी राक्षसों की चाल थी कि सभी वृत्तियाँ जगमगाने लगी थीं। हनुमानजी को अधिक सोचने-विचारने का मौका तो था नहीं। उन्होंने समूचा पहाड़ उखाड़ लिया और आकाश-मार्ग से उड़ते हुए वायुवेग से युद्ध-स्थल पर पहुँच गये। सुषेण ने वृत्ती को लक्ष्मण की नाक में सुँघा कर उन्हें जीवित किया।

शर्मिष्ठा-देवयानी

शर्मिष्ठा दैत्यराज वृषपर्वा की बेटी थी। देवयानी दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य की बेटी थी। शुक्राचार्य वृषपर्वा के राजगुरु और पुरोहित थे। दोनों साथ-साथ रहा करती थीं। एक दिन की बात है कि इन्द्र भगवान ने देखा कि एक सरोवर में कुछ युवतियाँ स्नान कर रही थीं। उन्हीं में शर्मिष्ठा और देवयानी भी थीं। इन्द्र ने अपनी माया से तेजी के साथ हवा बहाया, जिससे सरोवर के किनारे पर रखे हुए युवतियों के वस्त्र यत्र-तत्र उड़ने लगे और युवतियाँ शीघ्रता के साथ निकलकर अपने वस्त्रों को सँभालने लगीं। इसी शीघ्रता में शर्मिष्ठा ने भूज से देवयानी का वस्त्र पहिन लिया, यह देखकर देवयानी को क्रोध आ गया और शर्मिष्ठा को फटकारने लगी कि 'दैत्य की कन्या होकर तुमने ब्राह्मण तथा गुरु की बेटी का वस्त्र कैसे पहिन लिया?' शर्मिष्ठा भी आखिर राजा की लड़की थी, इसलिए उसने भी ईंट का जवाब पत्थर से दिया, 'मैं तो एक राजा की लड़की हूँ और तुम तो एक भिक्षा माँगने तथा हाथ फैलानेवाले की लड़की हो, तुम मेरी बराबरी क्या करोगी?' इसी प्रकार दोनों लड़कियाँ स्त्री-सुलभ अपमानजनक तथा अशोभनीय बातों से खूब लड़ीं। अन्त में मार डालने की इच्छा से शर्मिष्ठा देवयानी को एक सूखे हुए कुएँ में ढकेलकर घर चली गयी।

इधर दैवयोग से राजा ययाति शिकार खेलते हुए उसी वन में पहुँचे। वे थके और प्यासे थे। पानी के उद्देश्य से कुएँ के पास गये। कुएँ में उन्होंने देखा कि एक लड़की पड़ी है। पूछा तो देवयानी ने अपनी सारी विपत्ति कह

सुनायी और राजा से बाहर निकालने की प्रार्थना की। राजा ने देवयानी को दाहिना हाथ पकड़कर बाहर निकाला।

कुएँ से निकलकर देवयानी पिता के पास विलाप करती हुई पहुँची। पिता से सारा वृत्तान्त कह सुनाया। अपने अपमान तथा देवयानी के प्रति किये गये अत्याचार को जानकर बहुत दुखी हुए। शुक्राचार्य अपनी बेटी देवयानी को लेकर राजा वृषपर्वा के यहाँ पहुँचे और उनकी भर्त्सना करने लगे। वृषपर्वा ने जब सच्ची बातें सुनीं तो स्वयं भी अपनी बेटी शर्मिष्ठा के जघन्य कार्य पर बहुत लज्जित हुए; और गुरुदेव शुक्राचार्य से इस अपराध को क्षमा करने की प्रार्थना की। शुक्राचार्य ने यह संवाद देवयानी को दिया और देवयानी ने कहा कि राजा वृषपर्वा स्वयं आकर मुझे प्रसन्न करें। राजा के जाने और पूछने पर देवयानी ने कहा 'मेरे पिता जहाँ मेरा ब्याह करें शर्मिष्ठा मेरे साथ दासी बनकर एक हजार वर्ष रहे।' वृषपर्वा तैयार हो गये।

शीघ्र ही देवयानी मर्यादित होकर प्रसन्न हो गई। शर्मिष्ठा देवयानी की दासी बनकर एक हजार दासियों के साथ देवयानी के साथ रहने लगी। एक दिन की बात है कि देवयानी अपनी सखियों और दासियों के साथ वन-विहार कर रही थी। दैवयोग से राजा ययाति भी शिकार खेलते वहाँ पहुँच गये। देवयानी और शर्मिष्ठा को देखकर आकर्षित होकर पूछने लगे 'हे देवियो ! आप लोग कौन हैं ?' देवयानी ने भी आकर्षित होकर उत्तर दिया 'मैं शुक्राचार्य की बेटी देवयानी हूँ और यह शर्मिष्ठा मेरी दासी है।' इसके पश्चात् उसने पुनः पूछा 'हे राजन् ! आप कौन हैं और कैसे यहाँ आना हुआ।' ययाति ने उत्तर दिया, 'शिकार खेलते, मृग का पीछा करते यहाँ आ निकला। बहुत थक गया था और अब काफी सुस्ता चुका। अब चलने की आज्ञा हो।' राजा के ऐसा कहने पर देवयानी को तुरन्त स्मरण हो आया कि ये तो वही राजा हैं, जिन्होंने मुझे कुएँ से निकाला था और कहने लगी 'अब आप कहाँ जायँगे। आपने मेरा हाथ पकड़ा है इसलिए अब आप मुझे स्वीकार कीजिये।' राजा चकित होकर कहने लगे 'अरे यह क्या ! मैं क्षत्रिय और आप ब्राह्मण-कन्या, यह सम्बन्ध कैसे होगा।' देवयानी के आग्रह से मामला गुरुदेव के समक्ष आया। देवयानी को कच ने शाप दे दिया था कि उसका विवाह किसी

ब्राह्मण से न हो सकेगा । इसलिए शुक्राचार्य ने राजा को राजी करके देवयानी का विवाह राजा ययाति से करके राजा के साथ विदा कर दिया और साथ ही शर्मिष्ठा को भी दासी के रूप में अन्य दासियों के साथ भेज दिया तथा राजा को यह स्पष्ट रूप से सचेत कर दिया कि 'शर्मिष्ठा को कभी सेज पर न बुलाइयेगा ।'

इस प्रकार राजा देवयानी में आसक्त होकर भोग करने लगे । आकर्षण में शर्मिष्ठा देवयानी से कम न थी । राजा उसे भी काफी मानते थे, इसलिए उसके लिए भी बगीचे में अलग एक महल बनवा दिया था । राजा शर्मिष्ठा से भी अनुरक्त थे, पर शुक्राचार्य की चेतावनी के विरुद्ध न जाते थे । समय बीतता गया । समय आने पर देवयानी के पाँव भारी हुए । उपयुक्त समय पर यदु और तर्कसु नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए ।

इधर शर्मिष्ठा के मन में भी पुत्र की लालसा उत्पन्न होने लगी; क्योंकि उसने देखा कि देवयानी के दो पुत्र हो चुके थे । शर्मिष्ठा ने भी राजा ययाति को ही अपने मन में अपना पति माना था । ऋतुकाल आने पर ऋतुस्नान कर चुकी थी । ठीक इसी समय राजा साहब भी आ निकले । मौका उपयुक्त जानकर उसने राजा से पुत्र की भिक्षा माँगते हुए प्रार्थना की 'हे राजन् ! मेरा ऋतुस्नान असफल न जाय ।' राजा को शुक्राचार्य की चेतावनी का पूर्ण ध्यान था, परन्तु शर्मिष्ठा के तर्कों के सामने झुकना पड़ा और उसकी प्रार्थना को स्वीकार करके उसके धर्म की रक्षा की । उचित समय पर शर्मिष्ठा के गर्भ से द्रुह्य, अनु और पुरु नाम के तीन बालक उत्पन्न हुए, जो हर प्रकार से राजा के ही अनुहारि थे ।

राजा एक दिन देवयानी के साथ अशोक वन में टहलने निकले । देवयानी ने तीन बालकों को खेलते देखा । ये बालक दिलकुल राजा से ही मिलते-जुलते थे । शर्मिष्ठा के पुत्र-जन्म की बात सुनते ही देवयानी ने शर्मिष्ठा से पूछा कि ये पुत्र कैसे उत्पन्न हुए तो उसने कहा कि उसे एक ऋषि द्वारा ये पुत्र प्राप्त हुए थे । परन्तु बालकों को देख देवयानी तुरन्त ताड़ गई कि ये बालक राजा के ही हैं और राजा को देखते ही तीनों बालक राजा की गोद

में दौड़ आये, पर देवयानी के डर से राजा ने बनावटी झिड़क उन्हें दी। बालक रोते हुए शर्मिष्ठा के पास चले गये।

जब देवयानी को यह स्पष्ट हो गया कि राजा ने शर्मिष्ठा को उससे अधिक माना, क्योंकि उसके तीन पुत्र हुए और देवयानी के केवल दो ही, तो उसे बड़ी ठेस लगी। देवयानी रोती हुई अपने पिता के घर की ओर चल पड़ी। राजा भी पीछे-पीछे मनाने के लिए चले गये। पिता के पास पहुँचकर उसने पूरा वृत्तान्त कह सुनाया। शुक्राचार्य को अपनी आज्ञा का उल्लंघन हुआ देखकर बड़ा शोक एवं क्रोध हुआ और उन्होंने शाप दिया कि 'ययाति! तुमने मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया है तो तुम आज से बुढ़े हो जाओगे।' राजा तुरन्त बुढ़े हो गये। राजा अभी देवयानी से तृप्त नहीं हुए थे, इसलिए इस शाप से मुक्त होने का उपाय पूछा तो शुक्राचार्यजी ने कहा 'इसका एक ही उपाय है कि तुम्हारे पुत्रों में से यदि कोई तुम्हें जवानी दे और तुम्हारा बुढ़ापा ले, तभी तुम्हें जवानी मिल सकती है।' राजा अपनी राजधानी में वापस आये और जवानी प्राप्त करने के उपाय में लग गये।

शन्तनु

राजा शन्तनु महाराजा प्रतीप के पुत्र थे। इनके जन्म के बारे में महाभारत के आदि पर्व में इस प्रकार प्रसंग आया है। एक समय पृथ्वी पर राजा महाभिषक नाम के राजा थे। वे बड़े धर्मात्मा थे। उन्होंने हजारों अश्वमेध यज्ञ करके ब्रह्मा को प्रसन्न कर लिया और अन्त में स्वर्ग पहुँचे। वहाँ एक दिन ब्रह्मा की सभा में राजा साहब अन्य देवों के साथ बैठे थे। स्वर्गगंगा भी उपस्थित थी। हवा चलने से गंगाजी का अंचल उड़ गया। इस पर सभी देवताओं ने तो सिर नीचे कर लिया; किन्तु राजा ताकते ही रह गये। इसी पर ब्रह्माजी ने शाप दिया कि तुम पृथ्वी अर्थात् मृत्युलोक में जन्म लोगे और जिन गंगा ने तुम्हारा मन हर लिया है, वे तुम्हारा अप्रिय करेंगी। वही राजा महाभिषक पृथ्वी पर प्रतीप के पुत्र होकर शन्तनु के नाम से प्रसिद्ध हुए। शन्तनु ने जन्म लेकर बुढ़ापे में राजा प्रतीप को शान्त किया था, इसलिए इनका नाम शन्तनु पड़ा।

११ पौ. क.

शापवश गंगाजी को शन्तनु की स्त्री बनना पड़ा। इन्हीं गंगाजी के गर्भ से शन्तनु के आठ बालक उत्पन्न हुए। किन्तु अन्तिम को छोड़कर शेष सभी को गंगाजी ने जन्मते ही गंगा में फेंक दिया था। ये आठवें बालक ही, जो आठों वसुओं के अंश से उत्पन्न हुए थे, महाबली और महाप्रतिज्ञा करनेवाले भीष्म हुए।

एक दिन राजा शन्तनु शिकार खेलने निकले। गंगा नदी के किनारे पहुँचे। दूर से ही उन्हें मनमोहक सुगन्धि मालूम पड़ी। राजा चकित होकर इधर-उधर ताकने लगे तो देखा कि नदी में एक युवती नाव चला रही है और यह सुगन्धि उसी के शरीर से आ रही है। राजा मुग्ध हो गये और उसे वरण करने की इच्छा उत्पन्न हो गई। राजा उसके पास पहुँचे और उससे हाल पूछा। उसने बताया कि 'मैं दाशराज की कन्या हूँ, मेरा नाम सत्यवती है और मैं अभी कुमारी ही हूँ।' राजा साहव उन्मत्त तो थे ही, दाशराज के पास गये और विवाह का प्रस्ताव पेश किया। ऐसे यशस्वी राजा के प्रस्ताव से दाशराज अपने को तथा पुत्री के भाग्य को धन्य समझने लगा और एक शर्त रखकर बोला 'राजन्, मैं कन्या का विवाह तो तभी करूँगा, जब आप यह वचन दें कि इससे जो पुत्र उत्पन्न हो, वही राज्य का मालिक बने।' यह शर्त सुनकर तो राजा के कलेजे पर साँप लोट गया। राजा भीष्म को अत्यधिक चाहते और मानते थे। इसलिए अपने घर वापस चले आये। राजा को दुःखी देखकर भीष्म ने दुःख का कारण पूछा। राजा ने सब वृत्तान्त बताया। इस प्रकार सुनने पर भीष्म ने कहा 'पिताजी, चिन्ता न कीजिये; मैं सत्यवती को आपके लिए लाता हूँ।' भीष्म रथ लेकर दाशराज के पास पहुँचे और उससे कहा कि 'अपनी कन्या पिताजी को दो। उनके मैं ही अकेला पुत्र हूँ मैं राज्य न लूँगा, इससे तुम्हारा ही नाती राज्याधिकारी होगा।' दाशराज ने कहा 'राजन् आपकी बातें उचित और सत्य हैं; आप राज्य नहीं ले सकते हैं पर आपके पुत्र तो न मानेंगे।' इस प्रकार कहने पर भीष्म पिताजी की सेवा और प्रसन्नता के लिए कहने लगे 'मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं विवाह ही न करूँगा और आजीवन ब्रह्मचारी रहूँगा। अब तो तुम्हें कोई सन्देह नहीं?' दाशराज प्रसन्न हुआ और भीष्म को सराहने लगा तथा अपनी

कन्या को भीष्म के साथ विधिवत् विदा कर दिया। इस प्रकार राजा शन्तनु को सत्यवती मिल गई और वे सन्तुष्ट होकर भोग करने लगे। राजा के अंश से सत्यवती के दो पुत्र हुए। चित्रांगद और विचित्रवीर्य। चित्रांगद एक लड़ाई में मारे गये और विचित्रवीर्य गद्दी पर बैठे। इन्हीं विचित्रवीर्य से आगे पांडवों की वंश-परंपरा चलती है।

शकुन्तला-दुष्यन्त

शकुन्तला महर्षि विश्वामित्र और मेनका नाम्नी अप्सरा की पुत्री थी, किन्तु उसका पालन महात्मा ऋषि कण्व ने किया था, इसलिए वह उन्हींके आश्रम पर रहती और उन्हें ही अपना पिता समझती थी। उसके जन्म की कथा महाभारत के आदि पर्व में इस प्रकार आई है—

एक समय महर्षि विश्वामित्र तप करने लगे। इन्द्र को भय हुआ कि कहीं ऐसा न हो कि ऋषि हमारी पदवी को पहुँच जायँ। इस भय से इन्द्र विश्वामित्र के तप को भंग करने का उपाय करने लगे। उन्होंने स्वर्ग की सबसे सुन्दरी मेनका अप्सरा को बुलाकर कहा 'देखो, तुम जाकर अपने हाव-भाव और सौन्दर्य से विश्वामित्र का मन लुभाकर उनका तप भंग करो। पवनदेव तथा कामदेव भी तुम्हारी सहायता करेंगे।' इस प्रकार आदेश पाकर मेनका उस वन में पहुँची, जहाँ ऋषि तप कर रहे थे। मेनका वहाँ आकर नाज नखरों तथा भाव-भंगिमा से युक्त होकर गेंद खेलने लगी। इसी समय पवनदेव फूलों की सुगन्ध लेकर बहने लगे। हवा में मेनका का वस्त्र उड़ गया और वह नंगे शरीर वस्त्रों को पकड़ने के लिए इधर-उधर दौड़ने लगी। इसी समय ऋषि की आँखें खुल गयीं। कामदेव ने ऐसा बाण मारा कि विश्वामित्र की इन्द्रियाँ ढोल गईं और कामासक्त हो नंगी दौड़ती हुई मेनका को बुलाकर इच्छा पूर्ण की। मेनका तो इसीलिए गई ही थी। इस प्रकार तप भंग हो गया और विश्वामित्र के साथ मेनका ने काफी समय तक भोग किया। समय आने पर विश्वामित्र के वीर्य से मेनका के एक पुत्री हुई। मेनका ने लड़की को, जो कुन्त ही पैदा हुई थी, हिमवान पर्वत की तराई में मालिनी नदी के किनारे निःसहाय छोड़ दिया और स्वयं स्वर्ग को चली गई।

तुरन्त जन्मी बालिका को देखकर जंगल के पक्षीगण हिंसक जानवरों से उसकी रक्षा करने लगे। इसी समय उसी मार्ग से होकर कण्व ऋषि नदी-स्नान के लिए निकले। उन्होंने कन्या को उठा लिया और अपने आश्रम पर उसे ले आये। यहाँ लाकर उसका पालन करने लगे। चूँकि जंगल में उसकी रक्षा शकुन्तलगण अर्थात् पक्षीगण कर रहे थे, इसलिए ऋषि ने उस बालिका का नाम शकुन्तला रखा। ऋषि-आश्रम में पलकर शकुन्तला सयानी हुई और उसने मेनका से भी बढ़कर अपूर्व सौन्दर्य प्राप्त किया।

ययाति के सबसे छोटे पुत्र पुरु से पुरुवंश चला। इसी वंश में दुष्यन्त नाम के महा यशस्वी राजा हो चुके हैं। राजा दुष्यन्त के राज्य में प्रजा अत्यन्त सन्तुष्ट एवं सुखी थी। एक दिन दुष्यन्त शिकार खेलने निकले। शिकार खेलते-खेलते वे मालिनी नदी के किनारे पहुँचे तो देखा कि वहाँ पर एक रमणीय आश्रम बना है। उसके चारों ओर मृग-शावक स्वतन्त्र विचर रहे हैं। पक्षीगण कुहक रहे हैं। बड़ा ही मोहक वातावरण था। राजा तथा सैनिकगण सभी मस्त हो गये। राजा को मालूम हुआ कि वह कण्व ऋषि का आश्रम है। तो ऋषि का दर्शन करने के लिए सैनिकों को बाहर ही रोककर राजा ने आश्रम में प्रवेश किया। अन्दर आये तो देखा कि उसमें एक अनुपम सुन्दरी युवती संन्यासिनी के वेष में रह रही थी। उस युवती ने राजा का सत्कार किया, बैठने का आसन दिया तथा जलपान की व्यवस्था की। जल पीकर राजा सन्तुष्ट हुए और मन-ही-मन उस युवती की ओर आकर्षित हुए। राजा मुग्ध हो गये। उन्होंने ऋषि का समाचार पूछा तो युवती ने बताया कि 'महात्माजी बाहर गये हैं, अभी आयेंगे, तब तक आप आराम कीजिये।' राजा ऋषि की प्रतीक्षा तथा युवती के आकर्षण में वहीं बैठे रहे। इस बीच राजा ने शकुन्तला से वार्तालाप करना प्रारम्भ किया। पहले उन्होंने शकुन्तला का परिचय पूछा तो शकुन्तला ने अपने जन्म के तथा उस आश्रम में रहने के सम्बन्ध में जो कुछ वृत्तान्त अपने बारे में ऋषि से सुना था, सब कह सुनाया। राजा को यह ज्ञात कर कि शकुन्तला विश्वामित्र अर्थात् क्षत्रिय की कन्या है, विशेष प्रसन्नता हुई। अब राजा अपने को बिलकुल न संभाल सके। सन्तोष का सेतु टूट जाता है तो इच्छाओं का प्रवाह रोके नहीं सकता।

बोल पड़े, 'हे देवि ! मैं तुमपर आसक्त हो चुका हूँ, अब तुम मेरी प्रार्थना मानकर मेरे साथ गान्धर्व विवाह करो तथा मेरी इच्छा पूर्ण करो। क्षत्रियों के लिए, विवाह की आठ विधियों में से, गान्धर्व विवाह श्रेष्ठ माना गया है। इसलिए इससे न तुम पर कोई अपराध है, न मुझ पर।' शकुन्तला यह बात सुनकर लजा गई, किन्तु चित्त तो उसका भी डोल ही रहा था। उसने सौम्य शब्दों में उत्तर दिया 'राजन्, मैं कह चुकी हूँ कि मेरे पिताजी (कण्व ऋषि) अभी आते ही होंगे और वे स्वयं अपने हाथों से मुझे आपको समर्पित करेंगे।' किन्तु राजा तो आतुर हो रहे थे। उन्होंने शास्त्र-सम्मत गान्धर्व विवाह की महत्ता की चर्चा करके शकुन्तला को सहमत कर लिया और जल, अन्न आदि द्वारा विवाह के लिए तैयार हो गये। शकुन्तला ने एक शर्त रखते हुए निवेदन किया 'राजन् ! मैं बिलकुल अपना हाथ आपको देने को तैयार हूँ, किन्तु आपको मेरी एक शर्त माननी पड़ेगी। वह यह कि मेरे गर्भ से जो बालक होगा, वही राज्य का अधिकारी बनाया जाय।' राजा ने बिना कुछ सोचे-विचारे शर्त मान ली। वस, क्या था ! शीघ्रता से दोनों ने गान्धर्व-विवाह किया और वहीं एक कुंज में अपनी-अपनी इच्छा पूरी की। इसके बाद राजा यह कहकर कि 'मैं राजधानी जाकर आपको लेने के लिए चतुरंगिनी सेना भेजूँगा' चले गये। जाते समय चिह्न के लिए उसे अपनी अँगूठी देते गये थे।

इसी समय कण्व ऋषि आश्रम पर वापस आये। पहले की भाँति शकुन्तला उठकर शीघ्रता के साथ ऋषि का स्वागत न कर सकी। वह कुछ लज्जित एवं संकुचित बैठी ही रही। ऋषि ने अपनी दिव्यदृष्टि से सब कुछ जान लिया और बोले 'बेटी, कुछ चिन्ता और लज्जा न करो। तुमने जो कुछ किया है, उत्तम ही किया है। दुष्यन्त ऐसे प्रतापी तथा यशस्वी राजा से गान्धर्व विवाह करके तुमने कोई अपराध नहीं किया। मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हें दुष्यन्त के अंश से एक महाबली, प्रतापी और चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न होगा। इसके अतिरिक्त तुम जो वर माँगना चाहो, माँग लो।' शकुन्तला को मानो स्वर्ग मिल गया। प्रसन्न होकर बोली 'पिताजी, यदि आप प्रसन्न ही हैं तो मुझे वरदान दीजिये कि पुरुवंश के राजा कभी धर्म और राज्य से भ्रष्ट न हों। ऋषि ने कहा 'ऐसा ही होगा।'

राजा दुष्यन्त के चले जाने पर शकुन्तला का मन कुछ उदास रहने लगा । उसे यह दियोग खटकने लगा । इसी प्रकार एक समय शकुन्तला अपने प्रिय-तम की चिन्ता में बैठी थी, उसी समय आश्रम पर दुर्वासा ऋषि का पदार्पण हुआ । शकुन्तला कुछ चिन्तामग्न थी, इसलिए तुरन्त उठकर दौड़कर ऋषि का स्वागत न कर सकी । इस पर महात्मा जी क्रुद्ध हो गये और शाप दिया कि 'तुम जिसके प्रेम में दित्तुब्ध बैठी हो, वह तुम्हें विलकुल पहचान ही न सकेगा ।' शकुन्तला को मानो गोली लग गई हो । शीघ्रता से उठकर ऋषि का चरण छुआ और प्रार्थना की कि 'देव, इस पाप का शमन कैसे हो सकता है ? मुझसे भूल हुई, क्षमा काँजिये ।' ऋषि का क्रोध शान्त हुआ और बोले 'जब तुम राजा को उनकी दी हुई वस्तु दिखाओगी, तभी तुम्हारी याद आयेगी और तब वे तुम्हें स्वीकार कर सकेंगे ।' शकुन्तला के जी में जी आया कि अँगूठी तो है ही ।

इधर एक दिन शकुन्तला अपनी सखियों के साथ नदी-स्नान को गई और अपनी अँगूठी अपनी सखी प्रियंवदा को देकर स्नान करने लगी । दैवात् प्रियंवदा के हाथ से अँगूठी पानी में गिर गई और डर के मारे न उसने शकुन्तला से बताया और न शकुन्तला को ही याद आयी कि उससे पूछती ।

इस प्रकार कई माह व्यतीत हो गये । शकुन्तला गर्भवती तो थी ही, अब समय विलकुल निकट आ गया । ऋषि महोदय ने शकुन्तला को आश्रम में रखना अब उचित न समझा और अपने शिष्यों एवं दो सखियों के साथ शकुन्तला को राजा दुष्यन्त के पास भेज दिया । जब राजा ने शकुन्तला को देखा और सब वृत्तान्त सुना तो वे दंग रह गये । बोले, 'तुम विलकुल भूठ बोलती हो । मैं न तुम्हें जानता हूँ और न मैंने तुम्हारे साथ विवाह किया था । यह सब तुम्हारा ढोंग और त्रिया-चरित्र है । तुम गर्भवती हो । मैं किसी अन्य की स्त्री नहीं ग्रहण कर सकता ।' शकुन्तला ने लाख प्रयत्न किया, पर राजा अपनी ही बात पर अटल रहे । निराश होकर शकुन्तला को वहाँ से वापस आना पड़ा ।

वहाँ से तिरस्कृत होकर शकुन्तला एक मुनि के आश्रम पर रहने लगी । लज्जा और संकोच के मारे वह कएव ऋषि के पास वापस न जा सकी । उपयुक्त

समय पर शकुन्तला के एक चक्रवर्ती चिह्नों वाला प्रतापी और होनहार बालक उत्पन्न हुआ। धीरे-धीरे बालक बड़ा हुआ। कुछ बड़े होने अर्थात् ५-६ साल की उम्र का होने पर ही वह इतना बली था कि जंगली हिंसक जानवरों को बाँधकर उनसे खेलता था।

एक समय देवों और दैत्यों में संघर्ष हो रहा था। राजा दुष्यन्त बड़े ही कुशल धनुर्धारी थे। वे भी उस संग्राम में देवराज इन्द्र की ओर से लड़ने गये थे। वहाँ से विजय करके लौट रहे थे कि एक आश्रम पर देखा कि एक बालक एक शेर का मुँह पकड़कर फाड़ रहा है। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। बच्चे के पास आये और उससे उसका परिचय पूछा तो उसने बताया कि 'मैं इस आश्रम में रहनेवाली स्त्री का पुत्र हूँ।' राजा ने देखा कि उसके हाथ में चक्रवर्ती के लक्षण हैं। उन्होंने उसके हाथ पर मणि रखा। बालक उसे लेकर प्रसन्न हो गया। बालक दौड़ता हुआ माँ के पास गया। माँ ने समझ लिया कि वे दुष्यन्त ही हैं, पर करती क्या, वे तो उसे त्याग ही चुके थे। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ कि बालक का हाथ जला नहीं। वह चीज ऐसी थी कि मेरे खानदान के क्षत्री को छोड़कर अन्य के हाथ में पड़ने से भस्म कर देती। अवश्य ही यह मेरे खानदान का ही, किसी का बालक होना चाहिए। यही सोचते हुए राजा अपने महल पहुँच गये।

कुछ ही समय बीतने पर राजा के दरबार में कुछ मछुए उपस्थित हुए। उन्होंने राजा के सामने एक अँगूठी पेश की, जिसमें राजा का नाम खुदा हुआ था। उन्होंने बताया कि एक मछली के पेट से मिली थी। अँगूठी देखते ही उन्हें शकुन्तला का ध्यान हो आया। पूरा वृत्तान्त उन्हें स्मरण हो आया, शीघ्र ही रथ भेजकर शकुन्तला को मुनि के आश्रम से बुलवाया और बहुत पश्चात्ताप किया। इस प्रकार शकुन्तला और राजा दुष्यन्त शान्तिपूर्वक जीवन बिताने लगे। शकुन्तला से उत्पन्न पुत्र का नाम भरत पड़ा। दुष्यन्त के बाद भरत ने चक्रवर्ती राजा के रूप में राज्य किया।

[पुराणों में यह कथा भिन्न प्रकार से है। प्रस्तुत कथा कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' के आधार पर लिखी गई है।]

शेष-पृथ्वीधारण

कद्रू और विनता दो बहिनें थीं। इन दोनों का विवाह ब्रह्मा के पुत्र कश्यप ऋषि से हुआ था। समय आने पर दोनों को गर्भ रहा। कश्यप ने प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा। कद्रू ने माँगा कि 'मेरे आपके समान ही तेजस्वी एक हजार पुत्र नागरूप में पैदा हों'। विनता ने माँगा कि 'मेरे केवल दो ही पुत्र हों और वे कद्रू के एक हजार पुत्रों से अधिक बली और तेजस्वी हों। समय आने पर इस प्रकार कद्रू के एक हजार अण्डों से एक हजार नाग उत्पन्न हुए, जिनमें सबसे बड़े शेषनाग थे। विनता के दो पुत्र—अरुण और गरुड़ हुए। एक दिन माँ की आज्ञा न मानने से माँ कद्रू ने अपने पुत्रों को शाप दिया कि 'तुम सभी लोग जनमेजय के नाग-यज्ञ में भस्म हो जाओगे।'।

नागों में श्रेष्ठ नाग शेषजी माँ को छोड़कर तीर्थ करने निकल पड़े और एकाग्र होकर तपस्वी का वेष धारण करके हिम पर्वत पर तप करने लगे। ब्रह्माजी प्रसन्न होकर प्रगट हुए और कहा कि 'वर माँगो।' शेष ने कहा, 'मेरे माई सभी दुष्ट और बुरे स्वभाव के हो गये हैं। वे गरुड़ और उसकी माँ से जलते हैं। इसी से मैं उनके पास नहीं रहना चाहता और तप कर रहा हूँ। मैं यही वर माँगता हूँ कि मेरी बुद्धि सदा धर्म में रत रहे।' ब्रह्मा ने कहा 'ऐसा ही होगा। प्रजा की भलाई के लिए मैं तुम्हें एक काम और सौंपता हूँ। देखो, तुम सम्पूर्ण पृथ्वी को अपने सिर पर इस प्रकार धारण करो कि वह जरा भी हिल-डुल न सके।' शेषनाग ने कहा, 'जो आज्ञा, आप पृथ्वी मेरे सिर पर रख दीजिये।' ब्रह्मा ने कहा, 'तुम नीचे जाओ, पृथ्वी स्वयं तुम्हें राह दे देगी।' इस प्रकार शेषनाग ने बिल से होकर पृथ्वी के नीचे पहुँच कर पृथ्वी को धारण कर लिया। तब से आज तक यह पृथ्वी शेषनाग के सिर पर टिकी हुई है। ब्रह्मा ने शेष और गरुड़ की मित्रता भी करा दी।

शिवि

पूर्व समय में उशीनर नाम के एक राजा थे। शिवि उन्हीं के पुत्र थे। शिवि भी अपने पिता की भाँति ही धर्मात्मा, सत्यवादी, न्यायी और यशस्वी

राजा थे। शिवि के राज्य में प्रजा अत्यन्त सुखी थी। चारों ओर धर्म के ही कार्य होते थे; अन्याय, नोच-खसोट और अत्याचार का नाम न था। शिवि धर्मज्ञ राजा थे और उनकी धर्मज्ञता, दानशीलता और न्याय की कीर्ति तीनों लोकों में फैल रही थी।

एक दिन का जिक्र है कि राजा अपने दरबार में बैठे थे। उसी समय उन्होंने देखा कि एक बाज एक कबूतर को खेदे चला आ रहा है। कबूतर अत्यन्त भयभीत भागता आ रहा है और बाज तेजी से उस पर झपटा चला आ रहा है। भागता हुआ कबूतर राजा शिवि की जाँघ पर आ बैठा और भयाकुल स्वर में बोला 'राजन् ! मैं बिल्कुल निरपराध हूँ। यह बाज मेरे पीछे पड़ा है और मुझे मार कर खाना चाहता है। मैं अब आपकी शरण में हूँ। मेरी रक्षा कीजिये।' राजा ने उसकी प्रार्थना मान ली और उसे अभयदान देते हुए कहा 'इस समय तुम मेरी शरण में हो। अब तुम्हारा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता, इसलिए अब तुम निर्भय रहो।'।

उधर बाज भी राजा के पास आ पहुँचा और बोला, 'राजन् ! मैं अत्यन्त भूखा हूँ। यह कबूतर मेरा शिकार है और आज का यही मेरा आहार है। कृपया मेरे आहार को आप छोड़ दीजिये। मैं भूख से अत्यन्त व्याकुल हो रहा हूँ।' राजा ने उत्तर दिया 'यह कबूतर अब मेरी शरण में आ गया है। कुछ भी हो अब मैं इसे नहीं छोड़ सकता, क्योंकि शरणागत की सेवा और रक्षा करना मनुष्य का परम कर्तव्य है। शरणागत की उपेक्षा करनेवाला सदा अधोगति को प्राप्त होता है।'।

बाज ने फिर खीझकर कहा 'राजन् ! यह कहाँ का नियम है कि आप मेरे आहार को छिपा रहे हैं।' बाज और कबूतर की मनुष्य-वाणी सुनकर राजा स्तम्भित रह गये और मन ही मन विचार करने लगे कि विचित्र धर्म-संकट पड़ गया है। यदि कबूतर को छोड़ देते हैं तो शरणागत का अहित होता है। यह अधर्म है। यदि कबूतर को नहीं छोड़ते तो बाज भूखा रहता है। उसके आहार का अपहरण होता है। यह भी अधर्म ही है। लेकिन अन्त में राजा ने शरणागत की रक्षा करना ही उचित समझा और बाज से कहा—'श्येन-राज ! इस समय मैं बड़े धर्म-संकट में हूँ। लेकिन मैंने यही निश्चय किया है

कि शरणागत की रक्षा करना मेरा परम कर्तव्य है। रही बात आपके आहार की, सो आप जो मांस कहें, उसे पकवा कर जहाँ भी आप कहें वहाँ मैं भिजवा दूँ।' बाज ने उत्तर दिया 'मैं किसी अन्य जीव का मांस नहीं खाता हूँ। मैं तो केवल कबूतर का ही मांस खाता हूँ।' फिर राजा ने निवेदन किया कि 'आप कोई दूसरा उपाय बताइये, जिससे आपकी भूख शान्त हो जाय और मेरे शरणागत कबूतर की रक्षा भी हो जाय।'

बाज ने थोड़ी देर सोचकर उत्तर दिया 'यदि आप इस कबूतर की रक्षा ही चाहते हैं तो एक उपाय है। आप मुझे अपने शरीर का मांस अपने हाथों से काटकर इसी कबूतर के वजन के बराबर दे दीजिये।' शरणागत की रक्षा का उपाय जानकर राजा शिवि परम प्रसन्न हुए और तुरन्त तराजू ओर छूरी मँगवायी। तराजू के एक पलड़े पर कबूतर को बैठाया और दूसरे पर अपनी जाँघ से मांस काटकर रखने लगे। राजा मांस रखते जायँ, परन्तु कबूतर का भार उतना ही अधिक रहता रहे। जितना ही अधिक मांस राजा शिवि काटकर रखें, उतना ही मांसवाला पलड़ा हल्का और कबूतर का पलड़ा भारी होता चले। राजा ने पूरे शरीर भरका मांस काट कर उस पलड़े पर रख दिया, फिर भी मांस कबूतर के बराबर न हुआ। तब राजा बड़े विस्मय में पड़ गये और तुरन्त स्वयं उस तराजू पर बैठने चले। प्रसन्नतापूर्वक तराजू पर बैठ गये और शरणागत की रक्षा के लिए अपना शरीर अर्पित कर दिया। इतने में बाज यह कहता हुआ कि "राजा शिवि के लिए कुछ भी असाध्य नहीं" और "कबूतर की रक्षा हो गई" अन्तर्धान हो गया।

बाज के अन्तर्धान हो जाने पर राजा ने कबूतर से कहा 'हे कपोतराज ! तुम्हें तो यहाँ के पुरवासी कबूतर ही समझ रहे हैं, पर यह बाज कौन था ? यह तो कोई असाधारण जीव जान पड़ता है।'

कपोत ने कहा 'हे राजन् ! आपकी जय हो ! मैं अग्निदेव हूँ और बाज का रूप धारण किये वे साक्षात् इन्द्र थे। आपके सत्य और धर्म की कीर्ति देव-लोक तक फैल गई है। देव-लोक में आपके, सत्य और धर्म-दान की परीक्षा लेने की बात छिड़ पड़ी। सो हम (अग्निदेव) और इन्द्र तैयार हुए। हम लोगों ने आपको धर्म में वैसे ही पक्का पाया, जैसे सुना था। हे राजन् ! आपने मेरे

लिए जो शरीर का मांस काट कर दिया है, वह तुम राजाओं का मेरे वरदान से चिह्न होगा। मेरे वरदान से तुम्हारे दक्षिण पार्श्व से एक महा यशस्वी पुत्र होगा, जो कपोतरमा के नाम से विख्यात होगा। वह तुम्हारे वंश की कीर्ति को अक्षय रखेगा।' इतना कहकर कबूतर भी अन्तर्धान हो गया और राजा का शरीर पुनः ज्यों का त्यों हो गया। यह है शरणागत की रक्षा के धर्म का महत्त्व !

एक दिन एक ब्राह्मण राजा के पास पहुँचा और कहा, 'राजन् ! मैं अत्यन्त भूखा हूँ।' राजा ने कहा, 'महाराज ! आज्ञा कीजिये।' ब्राह्मण ने निस्संकोच कहा 'आपके बृहद्गर्भ नाम का पुत्र है। उसी का मांस पकाओ तो मैं वही खाऊँगा।' अभ्यागत की सेवा करनेवाले राजा के मुख पर किसी प्रकार का विकार नहीं आया और उन्होंने ब्राह्मण की आज्ञा को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

राजा ने ब्राह्मण की इच्छा पूरी करने के लिए अपने पुत्र को अपने हाथों मारा और मारकर उसका मांस स्वयं अपने ही हाथों पकाया। इसके बाद वह मांस एक बतन में रखकर तथा उसे अपने ही सिर पर धरकर राजा साहब ब्राह्मण के पास चले। वहाँ पहुँचे तो देखा कि ब्राह्मण देवता वहाँ नहीं थे। राजा बड़े विस्मित हुए। उसी समय एक आदमी ने राजा से आकर बताया कि मांस आने में देर देखकर ब्राह्मण क्रोधित होकर वहाँ से चले गये और शस्त्रागार, अश्वशाला, हस्तिशाला और कोषागार आदि में आग लगा रहे हैं। राजा सीधे ब्राह्मण के पास पहुँचे। उनके इस अनुचित कार्य को देखकर राजा को तनिक भी क्रोध नहीं आया और विनम्र भाव से बोले 'भगवन् ! भोजन तैयार है।' ब्राह्मण राजा को देखकर चकित हो गया और बोला 'राजन् पहले आप मांस खाँयें, तब मैं खाऊँगा, ब्राह्मण की आज्ञा एवं इच्छा को पूर्ण करने के लिए राजा साहब मांस खाने बैठ गये। जैसे ही राजा ने मांस का टुकड़ा उठाया और खाने चले, ब्राह्मण ने राजा का हाथ पकड़ लिया और बोला, 'धन्य हो राजन् ! ब्राह्मण को कुछ भी देने में आप पूर्ण समर्थ हैं। तुम्हारी परीक्षा हो चुकी। मैं साक्षात् भगवान् विष्णु हूँ और तुम्हारे धैर्य की परीक्षा लेने के लिए आया था।' इसके बाद भगवान् विष्णु ने राजा शिवि को

दर्शन दिया और अन्तर्धान हो गये। इसके बाद क्या देखते हैं कि राजा का वही पुत्र बृहद्गर्भ स्त्रर्णाभूषण एवं दिव्य वस्त्र पहने राजा के सामने खड़ा है। राजा ने भगवान को नमस्कार किया और प्रेम से पुत्र को गोद में उठा लिया। धन्य हो भारत ! तुमने ऐसे राजाओं को भी पैदा किया है, जिनकी अक्षय कीर्ति से सदा तुम्हारा ताज चमकता रहेगा।

शिशुपाल

शिशुपाल घमंडी राजा था और उसने कृष्ण का अपमान किया था; जिसके कारण कृष्ण ने उसका वध किया। कहा जाता है, जब शिशुपाल का जन्म हुआ तो वह गधे के समान रेंकने लगा। उसके तीन आँखें और चार हाथ थे। जन्म के समय उसके रेंकने की 'आवाज और रूप को देखकर सभी चिन्तित और चकित हो गये। माता तो ऐसा पुत्र देखकर अत्यन्त ही विस्मित हुई। उसी समय एक आकाशवाणी हुई कि "राजन् ! पुत्र के जन्म से अकारण आप डरें मत। इससे आपका कोई अहित न होगा। यह बालक बड़ा बलवान, यशस्वी और श्रीमान् होगा। इसलिए इसका भरण-पोषण करें। अभी इसकी मृत्यु नहीं होगी। इसे जो शस्त्र से मारेगा, वह भी पैदा हो चुका है।" इस आकाशवाणी से सबके जी में ढाढ़स आया और तब माता ने पुत्र को उठाया।

माता ने ध्वराकर उसी आकाशवाणी को लक्ष्य करके पूछा 'जिसने यह आकाशवाणी की है, उसे मैं प्रणाम करती हूँ और इतना और पूछती हूँ कि इस बालक की मृत्यु किसके द्वारा होगी, मनुष्य के या देवता के।' फिर आकाशवाणी ने उत्तर दिया 'जिसकी गोद में जाने से इस बालक की एक आँख और दो हाथ गायब हो जायँगे, उसीके हाथ से इसकी मृत्यु होगी।'

यह सुनकर सशंकित मन से माता ने पुत्र को उठाया और उसका पालन-पोषण करना प्रारम्भ किया।

चारों ओर ऐसे पुत्र की उत्पत्ति की घटना फैल गई। लोग ऐसे विचित्र पुत्र को देखने के लिए आने लगे। नित्य ही हित, मित्रों, सम्बन्धियों और दर्शकों की चेदिराज के यहाँ भीड़ लगी रहा करती थी। माता बहुत उत्सुकता

के साथ बालक को जो ही देखने आता, उसीकी गोद में बिठा देती। यह जानने के लिए कि किसकी गोद में जाने से इसके हाथ और आँख गायब हो जाती है। तमाम लोगों ने बालक को देखा और उठाया, पर वह ज्यों का त्यों बना रहा। माता को रात-दिन चिन्ता लगी रहती कि इसका मारनेवाला कहाँ है।

कुछ दिन बीतने पर कृष्ण और बलराम भी अपनी फुआ के उस अद्भुत पुत्र को देखने चेदिराज आये। फुआ अर्थात् शिशुपाल की माँ ने बच्चे को कृष्ण की गोद में बैठा दिया। भगवान कृष्ण की गोद में जाते ही बालक के दो हाथ और एक आँख तुरन्त गायब हो गयी। माता को यह निश्चय हो गया कि श्रीकृष्ण के हाथों ही उस बालक का वध होगा इसलिए वे उसका उपाय करने लगीं।

रानी ने भतीजे कृष्ण से कहा 'तात ! भयभीतों के तुम्हीं एक मात्र आश्रय देनेवाले हो। मैं भी भयभीत हूँ और एक वरदान माँगती हूँ।' कृष्ण ने प्रसन्न होकर कहा—'आज्ञा कीजिये, क्या सेवा करूँ अथवा क्या दूँ ? जो बात असम्भव भी हो उसे भी मैं आपको देने को तैयार हूँ।' इस प्रकार वचनबद्ध कराकर रानी बोली, 'बेटा, तुम हजारों वीरों में श्रेष्ठ हो। मेरा पुत्र शिशुपाल यदि कभी कोई अपराध भी कर दे तो उसे क्षमा कर देना।' भगवान कृष्ण ने कहा, 'फुआ, आप डरें न ! मार डालने लायक भी मैं शिशुपाल के सौ अपराधों तक बोलूँगा नहीं।' इस प्रकार मृत्युभय से मुक्त होने का वरदान प्राप्त कर माताजी अत्यन्त प्रसन्न हो गईं।

शिशुपाल का लालन-पालन होने लगा। बड़ा होने पर शिशुपाल बलवान और तेजस्वी राजकुमार हुआ। उसे भी अपनी मृत्यु के भय से मुक्त हो जाने की बात मालूम हो चुकी थी। इसलिए वह हमेशा गर्व में चूर रहा करता था और श्रीकृष्ण के विरुद्ध शत्रुता की ग्रन्थि बनाए रखता था। वह बार-बार श्रीकृष्ण को युद्ध के लिए ललकारता और कृष्ण बचाते जाते थे। रुक्मिणी का विवाह शिशुपाल से होना निश्चित था, पर रुक्मिणी को श्रीकृष्ण हर लाये। इससे और भी वह कृष्ण से जलने लगा।

एक समय राजा युधिष्ठिर ने यज्ञ का अनुष्ठान किया। यज्ञ में सम्मिलित

होने के लिए अन्यान्य राजाओं को सादर आमन्त्रित किया गया । एक से एक पूज्य और बढ़कर प्रतापी, योग्य और धर्मात्मा राजा एकत्र हुए । शिशुपाल और श्रीकृष्ण भी आमन्त्रित थे । यज्ञ में एक प्रसंग छिड़ गया कि यज्ञ में प्रथम भाग किसे दिया जाय और सबसे पहले किसकी पूजा की जाय । विवाद का विषय बन गया ।

अन्त में भीष्म पितामह ने यह निश्चय किया कि उस मण्डप में भगवान् कृष्ण से बढ़कर कोई पूज्य न था, इसलिए युधिष्ठिर को आदेश दिया कि पहली पूजा कृष्ण की की जाय । यह बात किसी भी राजा को अच्छी न लगी । लखा-तकी होने लगी । सबों ने अपना अपमान समझा । हर कोने से विरोध होने लगा और सबसे भीष्म से नोक-झोंक हो जाती ।

भावी प्रवल होती है । अन्त में शिशुपाल उठा और लगा श्रीकृष्ण को फटकारने । उसने कहा 'कल का यह अहीर का दरिद्र छोकरा यज्ञ में प्रथम स्थान पाये और एक चक्रवर्ती राजा बैठा रह जाय । इसके जन्म और कुल का भी ठीक पता नहीं और न इसके आचरण का पता है । स्त्रियों का अपहरण करने-वाला तथा अनेक स्त्री-गामी यह अहीर इस सम्मान लायक कदापि नहीं । यह सरासर अन्याय है । यदि सभी राजाओं की अनुमति मिले तो मैं अभी इस छोकरे को इसकी करनी का फल चखा दूँ.....इत्यादि ।' भीष्म, युधिष्ठिर आदि लाख उसे मना करते पर शिशुपाल वाज न आता । इधर श्रीकृष्णजी मन ही मन उसके अपराधों को गिनते जाते थे । जब उसके अपराध सौ के निकट आ गये तो कृष्ण बोले, 'सभासदो, मैं अपनी प्रतिज्ञा से बँधा हूँ, नहीं तो अभी शिशुपाल की बोलती बन्द कर देता । अब शिशुपाल सँभल जाय, अन्यथा अच्छा न होगा ।' कृष्ण की इन बातों को सुनते ही तो भावी की प्रेरणा से प्रेरित शिशुपाल आपे के बाहर हो चला और लगा उबलने । इस प्रकार सौ में जो कुछ बाकी था, वह भी पूरा कर दिया । सौ अपराध और गालियों के पूरे होते ही भगवान् कृष्ण ने सुदर्शन चक्र का स्मरण किया और धड़ से उसका सिर अलग कर दिया । इस प्रकार भगवान् ने भविष्यवाणी भी सत्य कर दिखायी तथा प्रतिज्ञा भी पूरी कर दी । 'सच है, भगवान् और भावी के विमुख होने पर कोई बच नहीं सकता ।

शबरी

जिस समय राम, लक्ष्मण जंगल में घूम रहे थे वे मार्ग में, अनेक आश्रमों पर जाते और ऋषियों द्वारा पूजित होते। जब राम चित्रकूट पहुँचे, तभी जंगल के ऋषियों और तपस्वियों को पता चल गया कि भगवान राम आये हैं। राम के दर्शन के लिए नाना प्रकार की तैयारियाँ ऋषियों द्वारा होने लगीं।

एक मुनि के आश्रम पर शबरी नाम की एक भीलनी इसी प्रकार तपस्विनी के वेश में रहती थी। वह भी सदा तप और ऋषि-सेवा में निरत रहती। नियम-धर्म से भगवान की पूजा करती रहती थी। जब उसने सुना तो उसने भी जंगल के मीठे फलों को इकट्ठा करना प्रारम्भ किया, जिससे राम का स्वागत कर सके।

सर्वान्तर्यामी भगवान रामचन्द्र शबरी के मन की बात जानकर उसकी सेवा से प्रसन्न होकर उसे परमपद देने के लिए उसके आश्रम पर पहुँचे। शबरी ने वेरों से तथा अन्यान्य फलों से राम का स्वागत किया। यद्यपि वे फल जूठे थे, तथापि रामचन्द्रजी ने उनको प्रेम से खाया और शबरी को सुख दिया। वेर जूठे इसलिए थे कि सभी फलों को शबरी ने चख रखा था और जो मीठे थे, उन्हें राम के लिए रख छोड़ा। शेष को फेंक दिया। बिना चखे पता कैसे चलता कि कौन मीठा है और कौन खट्टा। भगवान राम ने देखा कि शबरी के दिल में इतनी श्रद्धा थी कि प्रेमाधिक्य में उसे यह ध्यान रहा ही नहीं कि जूठे फल भगवान के लिए रख रही है। भगवान तो केवल हृदय की पवित्रता देखते हैं। उनके लिए न कुछ जूठा है और न कुछ शुद्ध। जो हृदय से उन्हें चाहता है, उसे वे अवश्य मिलते थे। इसीलिए भगवान ने शबरी के वेरों पर ध्यान देकर उसका दिल देखा।

सब प्रकार से सेवा-पूजा स्वीकार करके भगवान राम ने शबरी का कुशल-क्षेम पूछा। राम उसकी श्रद्धा-भक्ति से पिघल गये और बोले 'हे महातपस्विनी, मैं तुमसे परम प्रसन्न हूँ। इच्छानुसार मेरी पूजा, आराधना कर लो और जहाँ इच्छा हो, चली जाओ। तुम्हारे लिए स्वर्ग-द्वार खुले पड़े हैं।'।

शबरी भगवान का रुख देखकर परम प्रसन्न हुई और अपने भाग्य की

मन ही मन सराहना करते हुए उस वृद्धा ने अपना शरीर जलती हुई अग्नि में हवन कर दिया। अग्नि में प्रवेश करते ही उसका शरीर दिव्याभूषणों एवं वस्त्रों से सुसज्जित हो गया और वह सीधे स्वर्ग को चली गई। यह शाश्वत सत्य है कि जो दिल से भगवान की सेवा करता है, उसे भगवान अवश्य परमपद देते हैं।

श्रवणकुमार

श्रवणकुमार एक वैश्य-कुमार थे। उनके माता-पिता अत्यन्त वृद्ध एवं अंधे थे। न चल-फिर सकते थे और न देख सकते थे। बुढ़ापे में उनकी इच्छा हुई कि तीर्थ करें। श्रवणकुमार अपने पिता और माता की सेवा ही अपना परम कर्तव्य समझते थे। अपने मन और शरीर से जो कुछ भी सेवा सम्भव हो सकती थी, वह सब वे अपने अंधे माँ-बाप के लिए करते थे। तीर्थ कराने के उद्देश्य से उन्होंने अपने माता और पिता को बहंगी पर बैठा लिया और लगे भ्रमण करने।

इस प्रकार भ्रमण करते-करते श्रवणकुमार तमसा नदी के किनारे के जंगल में पहुँचे और अपना डेरा डाल दिया। उसी वन में रहते-रहते उन्होंने जंगली जानवरों से मित्रता प्राप्त कर ली। जंगली जानवरों को श्रवणकुमार अपने भाई-बंधुओं से भी अधिक प्यार करने लगे। उस जंगल और जंगली जानवरों से वे इतने परिचित हो गये कि अँधेरी रात में भी वे देखटके भ्रमण करते और जंगल का कोना-कोना वे पहचानते थे।

संयोगवश उसी वन में अयोध्या के राजा दशरथ शिकार खेलने आया करते थे। जब राजा का दल शिकार के लिए आता था तो उस दिन श्रवणकुमार घर से न निकलते थे। इसलिये नहीं कि उन्हें राजा से डर था, बल्कि इसलिए कि जंगली जानवरों का कष्ट और मृत्यु वे देख न पाते थे।

संयोग की बात है कि राजा दशरथ शिकार खेलते-खेलते और सिपाहियों से बिछुड़कर नदी के किनारे एक झुरमुट की ओर चले गये। रास्ता भूल गये। रात हो गई। चाँदनी रात थी। उसी समय अपने प्यासे माँ-बाप के लिए पानी लाने के लिए श्रवणकुमार कमंडल लिये तमसा तट पर गये थे। श्रवण

ने कमंडल पानी में डुबोया। पानी के बुड़बुड़ाने की आवाज हुई। राजा दशरथ ने समझा कि कोई जानवर पानी पी रहा है। राजा दशरथ को शब्द-वेधी बाण मारने की विद्या सिद्ध थी। राजा ने शब्द को लक्ष्य करके तुरन्त बाण चलाया। बाण जाकर सीधे श्रवण के सीने पर लगा और श्रवण 'हाय-हाय' करके धराशायी हो गया। मनुष्य की वाणी सुनकर तो राजा दंग रह गये और दौड़े हुए नदीतट पर गये। वहाँ देखा तो श्रवण घायल पड़ा था। राजा ने उसे गोद में उठा लिया और उसका परिचय पूछा। श्रवण ने अपना पूरा परिचय दिया और कहा 'राजन् ! मुझे मरने का तनिक भी शोक नहीं है। आप कृपा करके मेरे वृद्ध और अंधे माता-पिता को पानी पिलाइये। वे प्यास से तड़पते हुए मेरी राह देख रहे होंगे'। राजा ने प्रायश्चित्त करते हुए फिर पूछा, 'बताइये मैं आपकी और कौन सी इच्छाएँ पूरी करूँ?' श्रवण ने कहा 'राजन् ! मेरी दो इच्छाएँ हैं। मेरे माँ-बाप की देख-भाल की व्यवस्था करना तथा आज से इन निर्मम जंगली जानवरों को न सताना' इतना कहते-कहते श्रवण का गला रुँध गया।

राजा दशरथ हाथ में कमण्डल भरकर लिये हुए श्रवण के माता-पिता के पास पहुँचे। वे अपने बेटे का नाम ले-लेकर पुकार रहे थे और प्यास से व्याकुल थे। राजा की आहट पाकर पुकारा 'बेटा श्रवण' ! कोई उत्तर न आया। राजा निकट गये और धीरे से कहा—'लीजिये पानी'। वृद्ध ताड़ गये और पूछा, तुम कौन हो ? राजा ने पूरा वृत्तान्त कह सुनाया। अब कैसा पानी ! दोनों बुढ़े व्याकुल हो उठे और विलाप करने लगे। उस वृद्ध ने मरते समय कहा 'हे राजन् ! तुम्हारे कारण ही मैं पुत्रशोक में प्राण त्याग रहा हूँ। तुम्हें भी इसी प्रकार पुत्रशोक में प्राण छोड़ना पड़ेगा।' वह शाप दशरथ के लिए वरदान हो गया, क्योंकि उनके उस समय कोई सन्तान न थी। उन्हें चार पुत्र प्राप्त हुए और शाप के फलस्वरूप राम के वियोग में दशरथ को भी प्राण त्यागना पड़ा।

हनुमान

भगवान रामचन्द्र जी ने जब रावण का वध कर डाला और पृथ्वी, देवता और ऋषियों का संकट टाल दिया तब सभी ऋषि उन्हें आशीर्वाद देने गये।

उनके ही सहयोग से रामचन्द्र जी अश्वमेध-यज्ञ करनेवाले थे। उनमें विद्वान, सर्वद्रष्टा एवं सर्वज्ञानी ऋषि अगस्त्य भी थे। राम ने उनसे नाना प्रकार के धार्मिक प्रश्न किये और ऋषि ने उन्हें प्रेमपूर्वक सभी बातें बतायीं। जब श्री रामचन्द्र जी ने सुना कि बालि ने अपने बल से रावण ऐसे बली को मार कर दिया था तथा उसे काफी समय तक अपनी काँख में छिपाये रखा था, तो श्री रामचन्द्रजी ने युद्ध में हनुमान जी के बल, तेज, और पराक्रम का वर्णन करते हुए पूछा कि सुग्रीव के साथ रहकर हनुमान जी ने बालि को क्यों नहीं मारा ? और सुग्रीव को राजगद्दी क्यों नहीं दिलायी ? क्या अपने पराक्रम को हनुमान जी उस समय नहीं जानते थे ? कृपया आप मेरी शंका समाधान कीजिये।

अगस्त्य ऋषि ने उत्तर दिया कि 'हाँ, उस समय वे अपने बल को शाप-वश भूल ही गये थे। हे राघव ! मैं तुम्हें हनुमान जी की उत्पत्ति और वरदानों का पूरा वृत्तान्त सुनाता हूँ।'

पूर्व समय में केसरी नाम के बन्दर सुमेरु पर्वत पर राज्य करते थे। उनकी स्त्री का नाम अञ्जनी था। एक दिन वायुदेव ने अञ्जनी के गर्भ से अपने अंश से एक औरस पुत्र उत्पन्न कर दिया। अञ्जनी ने उस पुत्र को उसी पर्वत पर छोड़ दिया और स्वयं अन्यत्र चली गई। यही पुत्र हनुमान जी थे। जब अञ्जनी ने उन्हें छोड़ दिया तो उन्हें बड़े जोर की भूख लगी, किन्तु माता को वहाँ न देखकर हनुमान जी आकाश की ओर उड़े। प्रातःकाल का समय था। सूर्य भगवान उदय हो ही रहे थे। लाल-लाल सूर्य को देखकर हनुमान जी ने देखा तो समझा कि कोई अढ़वल का फूल है। भूखे तो थे ही, उसे खाने के लिए हनुमान जी सूर्य पर वेग से झपटे। इधर वायुदेव ने जब अपने पुत्र को सूर्य की ओर झपटते देखा तो वे पुत्र की सूर्य के तेज से रक्षा करने के लिए बर्फ के समान शीतल होकर हनुमान जी के पीछे-पीछे चले। इधर सूर्यदेव ने भी सोचा कि अभी अवोध बालक है और आगे चलकर देवताओं का बड़ा काम करेगा, इस कारण से सूर्य देव ने उसे भस्म नहीं किया। उसी दिन अमावास्या थी और राहु भी सूर्य को ग्रसने के लिए पहुँचा था। रास्ते में हनुमान जी से वेग से उछलने के कारण राहु से टक्कर हो गई। वह बहुत ही भयभीत

हुआ और सूर्य के रथ से कूद कर भागा और सीधे इन्द्र के पास पहुँचकर गिड़गिड़ा कर बोला—‘देवराज ! आपने मुझे सूर्य और चाँद को आहाररूप बताया था, पर आज जब मैं सूर्य के पास गया तो देखा कि एक दूसरे राहु ने सूर्य को ग्रस लिया है ।’ इन्द्र यह सुनते ही घबड़ा उठे और अपने ऐरावत हाथी पर चढ़कर क्रोधावेश में आकर राहु को आगे-आगे करके सूर्य के पीछे-पीछे चले ।

राहु इन्द्र से पहले ही सूर्य के पास पहुँच गया । इधर पर्वताकार हनुमान जी ने राहु को देखा तो समझा कि कोई फल है, इसलिए सूर्य को छोड़कर वे राहु पर झपटे । राहु ‘इन्द्र इन्द्र’ चिल्लाता हुआ भागा । इन्द्र ने उसकी आत वाणी सुनकर दूर ही से ललकारा कि ‘अभी इसे मारता हूँ ।’ हनुमान जी ने जब इधर ध्यान किया तो देखा कि इन्द्र हाथी पर चढ़े हुए थे । उन्होंने उन्हें एक दूसरा फल समझकर अब राहु को छोड़कर उनपर धावा मारा । इस पर क्रोधित होकर इन्द्र ने जोर से वज्र मारा । वज्र की चोट से हनुमान जी की बाईं हनु अर्थात् ठुड़ी टूट गई । वे मूर्छित होकर गिर पड़े ।

अपने पुत्र को इस प्रकार घायल देखकर पवनदेव तुरन्त वहाँ पहुँच गये और पुत्र को उठाकर एक गुफा में चले गये । पवनदेव ने इन्द्र पर क्रोध करके प्रजा का अहित करने के लिए ब्रह्मा बिल्कुल ही बन्द कर दिया । परिणाम यह हुआ कि हवा के रुक जाने से संसार के समस्त जीव, यक्ष, किन्नर तथा देव-गण के दम घुटने लगे । देव, दैत्य, यक्ष तथा समस्त जीव मृत्यु को निकट आया जानकर ब्रह्माजी के पास पहुँचे और हवा के रुक जाने का वृत्तान्त सुनाया । ब्रह्माजी ने सोचा कि इसका कोई न कोई कारण अवश्य होगा । क्षण भर विचार करके बोले—‘आज देवराज इन्द्र ने पवनदेव के पुत्र हनुमान को अपने वज्र से मार डाला है, इसी शोक तथा इन्द्र पर क्रोध कर पवनदेव ने चलना बन्द कर दिया है । अब बिना वायुदेव के पास चले इस समस्या का समाधान नहीं निकल सकता है । इतना कहकर ब्रह्माजी सुर, असुर, यक्ष, किन्नर, नाग और जीवों के साथ पवनदेव की गुफा में पहुँचे तो देखा कि पवनदेव पुत्र को गोद में लिये बैठे हैं । पवनदेव ने उठकर अपने पुत्र को लिए ब्रह्माजी को प्रणाम किया । ब्रह्माजी ने अपने कोमल हाथों से वायु एवं मृतपुत्र हनुमान जी को

पौराणिक कथाएँ

१८०

सहलाया। ब्रह्माजी का स्पर्श होते ही हनुमान जी जीवित हो उठे। वायुदेव के हर्ष की सीमा न रही और तुरन्त वे समस्त संसार के प्राणियों में भ्रमण करने लगे।

इसके बाद सर्वस्रष्टा ब्रह्माजी देवताओं को सम्बोधित करके बोले, 'हे देवगण ! यह पुत्र आगे चलकर तुम सबका हित करेगा, इसलिए प्रसन्न होकर सभी लोग अपनी-अपनी ओर से वरदान दो।' ब्रह्माजी की न्यायोचित एवं हितकर वाणी सबको प्रिय लगी। सबसे पहले देवराज इन्द्र ने वरदान दिया कि—'यह वानरश्रेष्ठ आज से हनुमान कहलायेगा, क्योंकि मेरे वज्र से इसकी हनु अर्थात् ठुड़ी टूट गई थी और मैं वरदान देता हूँ कि अब यह मेरे वज्र से कभी न मरेगा।' सूर्यदेव ने कहा—'मेरे तेज का सौवाँ भाग इसे प्राप्त होगा और बड़ा होने पर मैं स्वयं इसे वेद-शास्त्र एवं विद्या पढ़ाऊँगा, जिससे यह संसार में सबसे बड़ा वक्ता, ज्ञानी, शास्त्रज्ञ होगा।' तदनन्तर जलदेवता वरुणजी ने वर दिया कि—'यह मेरे पाश और जल से दस लाख वर्ष तक भी न मर सकेगा।' फिर यमराज जी बोले—'इसे किसी भी रोग का भय न होगा और न यह मेरे 'यमदण्ड' से ही कभी मरेगा।' धन के देवता कुबेरजी बोले, 'यह मेरे शस्त्रों अथवा मुक्त से कभी न मरेगा।' महादेव जी ने वरदान दिया कि यह मेरे अस्त्रों से कभी न मरेगा।' ब्रह्माजी ने भी यही वरदान दिया कि यह बालक कभी भी ब्रह्मास्त्र और ब्रह्मशाप से न मर सकेगा। यह ब्रह्मज्ञानी और दीर्घायु होगा। विश्वकर्मा ने कहा—'यह मेरे बनाये हुए अस्त्रों से न मरेगा और अमर रहेगा।' इस प्रकार अनेक देवों से हनुमानजी को ब्रह्मज्ञान, शास्त्रज्ञान तथा अमरता का वरदान मिला। अन्त में ब्रह्माजी ने वायुदेव से कहा—'हे मरुत् ! तुम्हारा पुत्र अपने इच्छानुसार रूप धारण कर सकेगा। कभी इसकी गति को कोई भी न रोक सकेगा। त्रेतायुग में जब श्रीरामचन्द्र जी अवतार लेंगे और राक्षस का वध करेंगे तो यह तुम्हारा पुत्र युद्ध में अवर्णनीय अद्भुत एवं असम्भव पराक्रम दिखायेगा। साथ ही भगवान के चरणों में इसकी अटल भक्ति भी होगी। इतना कहकर ब्रह्माजी देवलोक चले गये और वायुदेव प्रसन्न होकर अपने घर वापस आये।

सब प्रकार के वरदानों के प्रभाव से हनुमान जी शीघ्र ही पूर्ण हो गये।

अब उन्हें अपने बल, पराक्रम और अमरता पर अभिमान हो चला, जिसके फलस्वरूप वे ऋषि-मुनियों के आश्रमों पर नाना प्रकार के अत्याचार और तोड़-फोड़ करने लगे। ऋषि लोग उनके वरदानों की बात जानते थे, इसलिए कोई उन्हें शाप न दे पाता था, बल्कि उनके अत्याचारों को सह लेता था। एक बार अंगिरा और ऋगु वंश के कुछ मुनियों को इन पर क्रोध आया, किन्तु बालक समझकर उन लोगों ने कठिन शाप नहीं दिया, बल्कि एक दयायुक्त शाप दे दिया कि—‘जिस बल और पराक्रम के गर्व से तुम अभिमानी हो गये हो, उसे तुम काफी समय के लिए भूल जाओगे। जब तक कोई तुम्हें याद न दिलायेगा, तब तक तुम्हें अपने बल की याद न आयेगी। किसी के याद दिलाने पर अवश्य तुम्हारा बल बढ़ जायगा।’ इसके बाद हनुमान जी तेज और बलहीन भ्रमण करने लगे।

इसीलिए जब सुग्रीव और बालि में वैर हुआ तो भी हनुमान जी सुग्रीव की कोई मदद न कर सके, बल्कि पिंजरे में बन्द सिंह की भाँति सुग्रीव के साथ रहते थे। हनुमान जी में इतना बल था कि बालि को वे बात की बात में परास्त कर देते, पर उन्हें तो अपने बल का कुछ ज्ञान ही न था। पराक्रम, प्रताप, वीरता, उत्साह, सुशीलता, बुद्धि, कोमलता, न्याय-अन्याय-ज्ञान, ज्ञान, चतुराई, युद्धकौशल, गंभीरता, धैर्य, भक्ति, सेवाभाव में हनुमान जी के बराबर कोई नहीं था। व्याकरण सीखने के लिए हनुमान जी प्रातःकाल उदयाचल से सूर्य के पीछे-पीछे अस्ताचल तक जाते थे। हनुमान जी ने सूत्र, वृत्ति, वार्त्तिक, महाभाष्य, साधन और संग्रह, वेद, सांख्य, अन्यान्य शास्त्र एवं छन्दशास्त्रों का अध्ययन किया था। तपस्या में भी ये बृहस्पति के बराबर थे। इस प्रकार हनुमान जी हर प्रकार से बेजोड़ थे :

ब्रह्माजी की इच्छा और देवताओं के आवश्यकतानुसार हनुमान जी ने त्रेतायुग में भगवान राम की सेवा द्वारा देवताओं का कार्य किया। चार सौ कोस लम्बे समुद्र को एक छलाँग में लाँघ जाना, सीता का पता लगाना, लंका दहन करना, राम-लक्ष्मण को अहिरावण के चंगुल से छुड़ाना एवं अहिरावण का वध करना, लक्ष्मण जी को जिलाने के लिए सम्पूर्ण पर्वत को रात भर के

भीतर आकाशमार्ग से ले आना आदि ऐसे अद्भुत कार्य कर दिखाना हनुमान जी के ही वश की बात थी ।

भगवान के चरणों में उनकी अटूट भक्ति भी थी । उनका सारा शरीर सिया-राम-मय था । उनके रोम-रोम में राम थे । जब श्री रामचन्द्रजी लंका-विजय करके अयोध्या आये और उनका राज्याभिषेक होने लगा तो रुद्रको मुक्त हस्त दान, दक्षिणा, भेंट आदि लुटाया गया । सीताजी ने भेंट-स्वरूप मोतियों की एक अमूल्य माला हनुमान जी को भेंट की । हनुमान जी दाँतों से लगे मोतियों को फोड़ने और सूँघ-देखकर पेंकने । इस पर सीताजी को बड़ा आश्चर्य हुआ और पूछने लगीं कि इनमें फोड़कर क्या देख रहे हैं ? हनुमान जी ने उत्तर दिया कि इसमें राम ढूँढ़ रहा हूँ । मुझे तो जिसमें राम हों, वही वस्तु चाहिए । इस पर सीताजी ने वैसे ही स्वभावतः कह दिया कि क्या तुम्हारे शरीर में भी 'राम' हैं । इस पर हनुमान जी ने अपने दोनों हाथों से सीना फाड़ दिया । सभी ने देखा कि हनुमान जी के हृदय में 'सीताराम' की एक छोटी सी तस्वीर भलक रही थी और उसीके नीचे 'सीताराम' भी अंकित था । यह थी हनुमान जी की भक्ति ।

जिस प्रकार भक्त भगवान को चाहता है, उसी प्रकार भगवान भी भक्त को चाहते और उसकी प्रतिष्ठा रखते हैं । एक समय की बात है कि अर्जुन महाराज एक मार्ग से अपना गांडीव धनुष लेकर जा रहे थे । उन्होंने देखा कि रास्ते में एक बुढ़ा बन्दर लेटा पड़ा है । उसकी मूर्खता पर अर्जुन ने उसे समझाया कि रास्ता छोड़ कर लेटो । बन्दर ने उत्तर दिया 'भाई, मैं बुढ़ा हूँ, चलने-फिरने से मजबूर हूँ । आपही तनिक मेरी पूँछ पकड़कर उधर कर दीजिये ।' अर्जुन ने बन्दर की पूँछ पकड़ी और लगे खिसकाने । पूरी शक्ति लगाकर थक गये, पर बन्दर उस से मस न हुआ । अर्जुन ने सोचा कि इसमें अवश्य कोई रहस्य है । उन्होंने बन्दर से अपना परिचय बताने की प्रार्थना की । अर्जुन की प्रार्थना पर साक्षात् हनुमान जी ने अपना रूप प्रकट किया । अब क्या, अब तो दोनों गुरु भाई हो गये । जिस तरह एक ही कक्षा में पढ़नेवाले दो दिवालयों के दो छात्रों में प्रतियोगितात्मक भावनाएँ होती हैं, इसी प्रकार रामभक्त हनुमान और कृष्णभक्त अर्जुन में भावनाएँ बन गईं । बढ़-बढ़कर

बातें होने लगीं। अर्जुन ने कहा 'हमने राम की वृषा से पत्थरों से समुद्र पर पुल बाँधा था, मैं अपने बाणों से समुद्र पर पुल बाँध सकता हूँ।' इस पर हनुमान जी ने ललकारा 'मेरे पुल पर से पूरी सेना चली गई थी, पर आपका बाण का पुल मेरा अकेला भी भार नहीं सह सकता।' अब तो अर्जुन को बात लग गई। उन्होंने जोर दिया कि इसकी परीक्षा अभी हो जाय। अर्जुन ने गांडीव चढ़ाया और बात की बात में बाणों का पुल तैयार कर दिया।

इधर भगवान बड़े असमंजस में पड़ गये। उन्हें तो दोनों भक्तों की लाज रखनी थी। क्योंकि राम और कृष्ण तो नाम के अन्तर हैं, पर हैं तो भगवान ही। यदि पुल टूट जाता तो भक्त अर्जुन की हार थी और यदि पुल न टूटता तो हनुमान जी की हार! भट से भगवान ने कछुए का रूप धारण किया और बाण-पुल के नीचे जा बैठे। जैसे ही हनुमान जी ने उस पर पैर रखा, तैसे ही पानी के साथ ही खून की धारा बहने लगी। हनुमान जी ने समझ लिया कि किसी जीव की हत्या हो गई। वे भुक्कर खून की ओर देखने लगे तो उन्हें खून के स्थान पर साक्षात् भगवान राम दिखाई पड़े। इसी प्रकार अर्जुन को भगवान कृष्ण दिखाई पड़े। हनुमान जी ने भगवान को नमस्कार किया और पुल से नीचे उतर आये। इस प्रकार दोनों भक्तों की लाज रह गई। अब से अर्जुन और हनुमान जी में मित्रता भी स्थापित हो गई। यह थी हनुमान जी की भक्ति और भगवान की महिमा! पवनसुत हनुमान की जय !!

हरिश्चन्द्र

पूव समय में अयोध्या में त्रिशंकु नाम के राजा थे। उनके लड़के हरिश्चन्द्र राजा हुए। काफी समय तक हरिश्चन्द्र के कोई सन्तान न थी। हरिश्चन्द्र सत्यवादी, दानी और धर्मात्मा थे। सत्य, दान, धर्म—ये उनके जीवन के सिद्धान्त थे। निस्सन्तान होने के कारण राजा बड़े उदास रहा करते थे। नारद के उपदेश से राजा साहब वरुणदेव की शरण में गये और प्रार्थना की 'हे वरुणदेव। आप मुझे एक सुन्दर पुत्र दें तो मैं उसीसे आपका यजन करूँगा।' वरुण ने कहा 'ऐसा ही होगा।' इस प्रकार वरुण की कृपा से

राजा के रोहित नाम का पुत्र हुआ। जब दस दिन बीत गया तो वरुणदेव पहुँचे और यज्ञ करने को कहा तो राजा ने उत्तर दिया 'अभी तो यज्ञपुत्र दस दिन का है, जब दस दिन से अधिक हो जाय तो यज्ञ के योग्य होगा।' इसके बाद फिर वरुण जी पहुँचे तो राजा ने कहा 'दाँत निकल आवें तो पुत्र यज्ञ के योग्य होगा।' दाँत निकल आने पर वरुण देवता फिर पहुँचे तो राजा ने कहा 'यह यज्ञ के योग्य तभी होगा, जब कवच धारण करे।' इस प्रकार पुत्र के स्नेह में पड़कर राजा अपनी बात भूलकर हीला-हवाली करने लगे। जब रोहित को मालूम हुआ कि पिताजी मेरा बलिदान करना चाहते हैं तो वह धनुष लेकर अपने प्राणों की रक्षा के लिए जंगल चला गया। कुछ दिन बाद रोहित को फिर पता चला कि वरुणदेव ने मेरे पिता पर रुष्ट होकर आक्रमण किया है और पिताजी पीड़ित हो रहे हैं तो वह तुरन्त घर को चल पड़ा, पर रास्ते में इन्द्र ने ब्राह्मण का रूप धरकर उसे बहकाकर रोक लिया। इस प्रकार छः वर्ष तक इन्द्र रोहित को रोकते रहे। सातवें वर्ष जब वह लौटने लगा तो अजीर्त के मझले पुत्र शुनःशेष को मोल ले लिया और घर आकर उसकी बलि देकर वरुण का यज्ञ किया। वरुण प्रसन्न हो गये और हरिश्चन्द्र को मुक्त कर दिया।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि हरिश्चन्द्र बड़े दानी, धर्मात्मा और सत्यवादी थे। उनके द्वार पर जो कोई आ जाय और जो कुछ माँग ले तो उसे कभी इनकार नहीं करते थे। हरिश्चन्द्र ६६ अश्वमेध यज्ञ कर चुके थे। जो इस प्रकार सौ यज्ञ कर लेता था, उसे इन्द्र का पद मिल जाता था। हरिश्चन्द्र का एक ही यज्ञ शेष था, इसलिए इन्द्र अत्यन्त घबरा गये थे। किसी प्रकार उनके यज्ञ, तप, दान, सत्य और धर्म में विघ्न डालना चाहते थे।

एक दिन उन्होंने विश्वामित्र को ब्राह्मण के रूप में हरिश्चन्द्र के पास भेजा। ब्राह्मण ने हरिश्चन्द्र से दान में खजाने की चाभी माँग ली। हरिश्चन्द्र ने बिना कुछ सोचे-समझे चाभी दे दी। चाभी देने के बाद ब्राह्मण ने उस दान के संकल्प के लिए ६० भार स्वर्ण-दक्षिणा माँगी। चाभी देने का अर्थ होता है पूरा खजाना, राज्य, महल, सम्पत्ति सभी कुछ। अब साठ भार सोना कहाँ से आये। हरिश्चन्द्र के पास अब तो केवल स्त्री, पुत्र और अपना

शरीर ही बच रहा । बड़े असमंजस में पड़े । बिना ६० भार स्वर्ण-दक्षिणा के दान पूरा नहीं होता । यदि दिये हुए में कमी रह जाती है तो धर्म नष्ट होता है । साठ भार सोने के उपाय में अब राजा ने अपने तीनों व्यक्तियों को ब्राह्मण को सौंप दिया कि उन्हें बेचकर ६० भार सोना वसूल लें ।

यह है प्रारब्ध का चक्कर । एक चक्रवर्ती राजा आज अपने शरीर पर भी अधिकार नहीं रख रहा है । ब्राह्मण क्या करता, सारे देश में तो हरिश्चन्द्र का राज्य था और अपने राज्य में कहाँ विकते ही ? क्योंकि वह सब तो पहले ही ब्राह्मण को सौंप चुके थे । हाँ, एक स्थान था । शिवजी के त्रिशूल पर बसी हुई काशी नगरी थी, जहाँ हरिश्चन्द्र को बेचा जा सकता था । ब्राह्मण के दूत तीनों मूर्तियों को काशी बेचने ले गये । हरिश्चन्द्र ने धन-सम्पत्ति तो छोड़ दी, पर सत्य और धर्म को अब भी न छोड़ा । काशी में राजा साहब एक डोम के घर बिके । डोम के घर का कुछ काम तथा मुख्य रूप से श्मशान घाट की रखवाली करने तथा मुर्दा जलानेवालों से कर वसूल करने का काम हरिश्चन्द्र को करना पड़ता था ।

राजा की स्त्री एवं रोहित को दूतों ने एक वेश्या के हाथ बेच दिया । रानी घर का पानी भरने, बरतन मलने, पीसने, कूटने आदि का काम करती तथा रोहित बगीचे से फूल चुन-चुनकर लाता । इस प्रकार अपना तथा बाल-बच्चों का शरीर बेचकर हरिश्चन्द्र ने दान और दक्षिणा का भार अदा किया ।

हरिश्चन्द्र जिस डोम के यहाँ बिके थे, वह डोमों का राजा था । उसके मुर्दा जलानेवाले घाट थे । उन्हीं घाटों की रखवाली करना राजा का काम था । जो कोई भी मुर्दा जलाने आता, उससे कर वसूल किया जाता था । बिना कर चुकाये कोई भी व्यक्ति मुर्दा नहीं जला सकता था । ऐसा वहाँ का नियम था ।

जब घर में आग लगती है तो चारों ओर से हवा चलने लगती है । दुर्भाग्य ने अब भी राजा का पीछा न छोड़ा । वह रानी जो दासियों पर केवल हुक्म चलाया करती थी और हाथ से पानी का गिलास भी नहीं उठाती थी, आज स्वयं कठिन से कठिन गृहस्थी के कार्य कर रही है । हाथ छिले जा रहे

हैं। उधर राजा की भी वही हालत है। जिस सिर पर चक्रवर्त्ती सूचक मुकुट झलका करता था, उस पर आज कफन के कपड़े की काली पट्टी लपेटी है। जिन हाथों में राजदण्ड शोभा देता था उनमें टिकटी का बाँस लाठी का काम दे रहा है। जिस शरीर ने कभी सर्दी-गर्मी का अनुभव तक न किया था, उसी शरीर के लिए सर्दी-गर्मी अब ओढ़न और विल्लावन हो गये। यह है प्रारब्ध की वक्रता ! परन्तु हरिश्चन्द्र के चेहरे पर मलीनता एवं कष्ट की रेखा तक नहीं है। उनका मुखड़ा सदा प्रसन्न रहा करता था। उनके रूप, कार्य और मुख-मुद्रा को देखकर कभी कोई यह अनुभव नहीं कर सकता कि कभी ये राजा रहे होंगे और आज हीन दशा में पड़े हैं। ऐसा होता ही क्यों ? हरिश्चन्द्र का सुख तो उनके सत्य, धर्म और कर्तव्य में सना हुआ था और उसे वे कर ही रहे थे।

जिस प्रकार अग्नि नये और पुराने लुप्टर का ध्यान नहीं रखती है, उसी प्रकार भाग्य भी छोटा-बड़ा, अमीर-गरीब, समर्थ और निस्सहाय नहीं देखता। इधर विश्वामित्र और इन्द्र आदि बहुत हैरान हुए कि हरिश्चन्द्र का धर्म और सत्य तो अब भी न डिंग सका। उसे डिंगाने का कोई उपाय करना चाहिए। विश्वामित्र ने तुरन्त सर्प का रूप धारण किया और उसी बगीचे में जा बैठे, जहाँ रोहित फूल चुनने जाया करता था। नित्य की भाँति आज भी रोहित फूल चुनने गया। जैसे ही फूल पर हाथ लगाया, कालरूपी सर्प ने डँस खाया। रोहित चिल्लाने लगा। माता दौड़ी। पुत्र के पास आई और लाख यत्न करने लगी; किन्तु सब व्यर्थ हो गया। आखिर रोहित माँ को अकेला छोड़कर दुनिया से चल ही बसा। माता ने नाना प्रकार से विलाप किया तथा भाग्य की भर्त्सना की। स्त्रियोचित स्वभाव से पति के सत्य और धर्म पर भी एकाध शब्द कह डाला। पर करती ही क्या !

पुत्र को उठाया और सीधे श्मशान-घाट पर पुत्र का दाह करने पहुँचीं। वहाँ पर देखा कि राजा साहज्य हाथों में मोटा-सा हरा बाँस लिए घाट की रखवाली कर रहे थे। स्त्री ने पुत्र का दाह करने की अनुमति माँगी। राजा जब निकट आये तो पुत्र को तथा स्त्री को पहचाना। जी-भर के पुत्र के निधन पर रोया। स्त्री के लाख कहने और गिड़गिड़ाने पर भी राजा ने बिना कर

दिये शव जलाने की अनुमति न दी। रानी को बड़ा आश्चर्य और विस्मय हुआ— राजा के पहचान लेने पर भी विपत्ति की घड़ी में इस प्रकार क्रूर होने पर। रानी के पास तो पुत्र के लिए कफन भी नहीं था तो कर के रूप में वह क्या देती। राजा सब मजबूरी समझ रहे थे और दिल में दया भी थी, पर सत्य और कर्तव्य कैसे छोड़ देते? अपनी स्त्री से यदि कर न लेते तो इतने कष्टों को सहकर जो सत्य निभाया था वह क्षण भर में मिट्टी में मिल जाता। अतएव सत्य और कर्तव्य के सामने परिवार तो क्या, अपनी जान की भी बाजी लगा देना राजा के लिए बच्चों का खेल था।

रानी बड़े धर्म-संकट में पड़ी। पुत्र का दाह अनिवार्य था और वह बिना कर दिये हो नहीं सकता था। रानी के तन पर केवल एक साड़ी मात्र थी। उसने कहा 'यदि आप नहीं मान रहे हैं तो कर के रूप में इसी साड़ी का एक भाग फाड़कर ले लीजिये।' क्या करते, राजा साहब तैयार हो गये। राजा हरिश्चन्द्र के सत्य की परीक्षा पूर्ण हो चुकी थी। जैसे ही रानी ने फाड़ने के लिए साड़ी में हाथ लगाया, वैसे ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, विश्वामित्र आदि साक्षात् प्रकट हो आये। राजा ने भगवान को साष्टांग प्रणाम किया। इधर भगवान ने रोहित को जिला दिया और राजा को पुनः उनका राज्य वापस किया। यह तो केवल राजा की परीक्षा मात्र थी और कुछ नहीं था। सत्य में यह बल है! भगवान को भी मात होना पड़ता है। धन्य हो हरिश्चन्द्र!!

हिरण्यकश्यपु-हिरण्याक्ष

एक समय ब्रह्मा के पुत्र भगवान कश्यप सन्ध्याकालीन हवन-यज्ञ कर रहे थे। ठीक उसी समय उनकी धर्मपत्नी दिति उनके पास आई और हाथ जोड़कर निवेदन किया—'पतिदेव, पिताजी ने हम दोनों बहिनों (दिति और अदिति) को आपको सृष्टि की रचना के लिए सौंपा है। इस समय निर्दयी कामदेव अपने बाणों से मुझे आहत कर रहा है। मेरा चित्त काबू में नहीं है। कृपया मेरी संतुष्टि कीजिये।' भगवान कश्यप ने उत्तर दिया—'प्रिये, यह समय संध्याकाल का है, जो भगवान भूतनाथ शंकर का समय है। भूतनाथ

महादेव के भूत-पिशाचगण इस समय भ्रमण कर रहे हैं। यह सुहूर्त महाभयंकर है और अमद्र है। इस समय के गर्भ की सन्तान घोर राक्षसी प्रवृत्ति की होगी। तनिक ठहर जाइये। शुभ सुहूर्त आने पर मैं आपकी इच्छा अवश्य पूरी करूँगा।'

कश्यप जी ने अपनी अर्द्धाङ्गिनी दिति को बहुत समझाया, पर उन्होंने एक न सुनी, क्योंकि उस समय वे कामांध हो रही थीं। उसी असमय और अमद्र सुहूर्त में कामातुर दिति ने अपने पति का वस्त्र उसी मण्डप में ही पकड़ लिया। ब्रह्मर्षि कश्यप ने वाध्य होकर एकान्त में पत्नी की इच्छा पूर्ण की और फिर नहा-धोकर तथा शुद्ध होकर यज्ञ पूर्ण करना प्रारम्भ किया। दिति को गर्भ रह गया। उस समय वे कामान्ध थीं, पर जब इच्छा सन्तुष्ट हुई और नशा उतर गया, तब उन्हें भले-बुरे का चेत हुआ तथा सीधे पतिदेव ब्रह्मर्षि के पास पहुँचीं और निवेदन किया 'ब्रह्मन् ! भगवान् भूतनाथ सर्वेश्वर मुझ पर दया करें और मेरा गर्भ नष्ट न करें—ऐसा कुछ उपाय मुझे बतलाइये।'

कश्यप ने उत्तर दिया 'हे देवि ! तुमने भगवान् शंकर तथा अन्य देवों की अवहेलना की है, इसलिए अब तुम्हारे गर्भ से अमंगलकारी कुप्रवृत्ति के ही पुत्र उत्पन्न होंगे। उनके अत्याचार से संसार के प्राणी सन्तप्त रहेंगे। पृथ्वी गरुआ जायगी। अन्त में भगवान् सर्वेश्वर अवतार लेकर उनका वध करेंगे।' दिति फिर बोली 'अब तो जो होना था, हो ही गया। अब मैं यह चाहती हूँ कि मेरे पुत्रों का वध साक्षात् चक्रपाणि भगवान् के ही हाथों हो, किसी ब्रह्मशाप आदि से न हो।' कश्यप ने फिर कहा 'ऐसा ही होगा। और तुम्हारी बुद्धि शीघ्र सुधर गई है और तुमने अपने दुष्कर्म पर प्रायश्चित्त किया है; इसलिए तुम्हारे पुत्रों में एक पुत्र ऐसा होगा जो देववृत्ति का तथा भगवान् का भक्त होगा। उसका मनुष्य और देव सभी मान करेंगे।'

दिति को जब यह मालूम हो गया कि उसके पुत्रों से देवों का अहित होगा तो और दूसरों के तेज को क्षीण करने के लिए दिति ने कश्यप जी के तेज (वीर्य) को सौ वर्षों तक गर्भ में ही स्थित रखा। इसका परिणाम यह हुआ कि सूर्य, चन्द्रमा आदि देवताओं का तेज क्षीण होने लगा। इन्द्रादि लोकपाल

भी तेजहीन होने लगे । दिशाओं में अन्धकार छाने लगा । चारों दिशाओं में तहलका मच गया । इस अव्यवस्था से सभी देवगण अत्यन्त घबराये और ब्रह्मा जी के पास पहुँचे । ब्रह्माजी से देवताओं ने तेजहीन होने का वृत्तान्त कहा । ब्रह्माजी बोले—‘इस समय दिति के गर्भ में दो असुरों ने प्रवेश किया है, उन्हींके तेज से यह दुर्व्यवस्था हुई है । वे असुर वास्तव में जय-विजय नाम के विष्णु के पार्षद हैं । सनकादि के शाप से उन्हें राक्षस योनि मिली है । इस समय भगवान यही चाहते हैं । इसलिए यह होकर ही रहेगा ।’ ब्रह्माजी की बात से देवताओं की शंका निवृत्त हो गयी और वे अपने-अपने धाम को चले गये ।

इधर जब सौ वर्ष पूरे हो गये तो दो यमज (जोड़ुये) पुत्र उत्पन्न किये । उन्हीं का नाम हिरण्यकश्यपु और हिरण्याक्ष पड़ा । इनके जन्म लेते ही तमाम उत्पात होने लगे । पृथ्वी काँपने लगी । पर्वत भी हिलने लगे । समुद्र खलबला उठा । चारों दिशाओं में दाह उत्पन्न होने लगा । विनाशकारी भयानक तूफान चला । सूर्य, चन्द्र आदि देव छिप गये, जिससे चारों दिशाओं में अँधेरा छा गया । इसी प्रकार अन्यान्य अमंगलसूचक घटनाएँ घटने लगीं ।

इधर वे दोनों दैत्य शीघ्र ही फौलाद के समान कठोर शरीर से बढ़ने लगे और क्षणमात्र में पर्वत के बराबर हो चले । उनके विशाल शरीरों से सारी दिशाएँ ढँक गईं । जब पृथ्वी पर कदम रखते तो भूकम्प-सा आने लगता ।

इन दोनों दैत्यों ने तपस्या और वरदान से मृत्यु के भय को जीत लिया था । अपने बाहुबल से उन्होंने विश्वविजय किया । इसके बाद हिरण्याक्ष समुद्र में रहने लगा । उसी समुद्र में वाराह भगवान ने उसे मारा था ।

हिरण्यकश्यपु राजा हुआ । बड़ा अभिमानी, ईश्वरविरोधी और पापी हुआ । उसने ब्रह्मा से वरदान प्राप्त किया था कि वह न मनुष्य से मरे, न देवता से, न घर में, न बाहर, न संध्या, न सुबह, न दिन, न रात में और किसी भी औजार और हथियार से न मरे । ऐसा वरदान पाकर उसे मृत्यु का भय बिलकुल जाता रहा । किसी भी प्रकार का डर और संकोच उसे न था । उसका पुत्र था प्रह्लाद, जो कश्यप के आशीर्वाद से धर्मात्मा और ईश्वर-भक्त निकला । हिरण्यकश्यपु उससे बहुत जलता था । उसे मारने का लाखों उपाय

किया, पर भगवान ने उसे वचा लिया। अन्त में भगवान ने नृसिंह रूप धारण करके अपने वधनखों से उस पापी हिरण्यकश्यपु का वध किया।

त्रिशंकु-विश्वामित्र

विश्वामित्र गाधि के पुत्र थे। कुश प्रजापति के पुत्र कुशनाभ हुए। कुशनाभ के पुत्र हुए गाधि और उन गाधि से विश्वामित्र पैदा हुए। विश्वामित्र बड़े प्रतापी क्षत्रिय राजा हुए। उन्होंने अपने प्रचण्ड तेजोबल से ब्रह्मर्षि पद प्राप्त किया। विश्वामित्र राजा हुए तो कई हजार वर्षों तक उन्होंने राज्य-सुख किया।

एक समय की बात है कि राजा विश्वामित्र कई अक्षौहिणी सेनाओं को लेकर पृथ्वी की परिक्रमा करने निकले। घूमते-घूमते राजा विश्वामित्र ब्रह्मर्षि वशिष्ठ के आश्रम पर पहुँचे। वशिष्ठ का आश्रम साक्षात् देवलोक के समान था। राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि, यक्ष, किन्नर आदि से सुशोभित आश्रम में तेज और पवित्रता की दीप्ति थी। परम तेजस्वी वशिष्ठ को देखकर विश्वामित्र ने साष्टांग प्रणाम किया। वशिष्ठ अति प्रसन्न हुए। वशिष्ठ ने विश्वामित्र को यथोचित आसन दिया और फल-मूल आदि से पूर्ण सत्कार किया। इसके बाद कुशल-क्षेम आदि का आदान-प्रदान हुआ। वशिष्ठ ने राजा विश्वामित्र से बार-बार निवेदन किया कि उस दिन वे अपनी सेना सहित वशिष्ठ का आतिथ्य स्वीकार करें। विश्वामित्र ने सहमति दे दी। राजा अपने परिवार सहित वहाँ टिके। वशिष्ठ ने कामधेनु के प्रभाव से इच्छानुसार मनचाही वस्तुएँ प्राप्त करके विश्वामित्र का स्वागत किया। राजर्षि विश्वामित्र को कामधेनु के इस कार्य पर बड़ा आश्चर्य हुआ। उनका मन कामधेनु पर ललचा गया और विनम्र भाव से वशिष्ठ से बोले 'ब्रह्मन् ! आप मुझसे एक लाख गौएँ लेकर मुझे अपनी कामधेनु देने की कृपा करें, क्योंकि यह एक रत्न है।'।

वशिष्ठ ने उत्तर दिया 'राजर्षि ! यही कामधेनु मेरा जीवन है। एक लाख क्या, एक अरब गायें भी इसके सामने कुछ नहीं हैं। मैं इसे किसी भी हालत में नहीं दे सकता।' विश्वामित्र राजा तो थे ही। क्षत्रिय का जोश नसों में दौड़ गया और शक्ति पर गर्व करते हुए उन्होंने अवला (कामधेनु) को बल-

पूर्वक बाँध लिया और चलते बने। कामधेनु अत्यन्त दुःखी और चिन्तित हुई। वह रोने लगी और अपने बल से सभी सैनिकों को भटक कर वशिष्ठ के पास पहुँची और बोली 'ब्रह्मर्षि, क्या आपने मुझे वास्तव में त्याग दिया, जो ये सैनिक मुझे खींचे ले जा रहे हैं।'।

वशिष्ठ ने दुःखित होकर उत्तर दिया 'भला मैं तुम्हें कैसे त्याग सकता हूँ ? राजा बली होते हैं। जबरदस्ती ये तुम्हें ले जा रहे हैं। मुझे राजा से लड़ने का बल नहीं है। बड़ी विवशता में हूँ, क्या करूँ।' वशिष्ठ की असमर्थता को देखकर कामधेनु ने कहा 'ब्रह्मर्षि ! राजा की शक्ति आपके तेजोबल से अधिक नहीं है। आप मुझे इस कार्य में मिड़ने की आज्ञा दीजिये। मैं इन दुष्टों का दर्प दूर किये देती हूँ।' वशिष्ठ की आज्ञा से कामधेनु ने 'हुंभा' शब्द किया, जिससे असंख्य सैनिक शस्त्र लिये प्रकट हो आये और क्षणमात्र में बली विश्वामित्र की सेना का संहार कर डाला। इसके बाद विश्वामित्र के सौ पुत्र वशिष्ठ पर दूट पड़े। वशिष्ठ ने उन्हें हुंकार मात्र से ही जलाकर खाक कर डाला।

महा पराक्रमी राजा विश्वामित्र अपनी इस हार से अत्यन्त लज्जित हुए। पुत्रों और सेना के नाश ने उन्हें अत्यन्त चिन्तित बना दिया। तब उन्हें भी तेजोबल प्राप्त करने की इच्छा हुई। और अपने एक पुत्र को क्षात्र-धर्म से राजगद्दी पर बैठाकर स्वयं तपस्या करने के लिए हिमालय पर चले गये। विश्वामित्र ने हजारों वर्षों तक तपस्या की। उनकी तपस्या से शंकर भगवान् प्रसन्न हुए और प्रकट होकर विश्वामित्र को दर माँगने का आदेश दिया। विश्वामित्र ने कहा 'भगवन् ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो सांगोपांग उपनिषदों तथा रहस्य सहित धनुर्वेदों का ज्ञान प्रदान करें। देवताओं, राक्षसों, गन्धर्वों, महर्षियों और यक्षों के पास जो भी शस्त्र हों, सब मुझे ज्ञात हो जायँ।' शंकरजी 'एवमस्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये।

अब तो विश्वामित्र के घमण्ड का ठिकाना न रहा। अब वे बदला लेने की भावना से वशिष्ठ के आश्रम पर पहुँचे। उन्होंने सीखे हुए अन्यान्य अस्त्रों को चलाया, जिसके तेजोबल से वन भस्म हो गया। वशिष्ठ के आश्रम के सभी प्राणी भयाकुल होकर भागने लगे। अब विश्वामित्र और वशिष्ठ की मुठभेड़ हुई, पर आश्चर्य की बात कि विश्वामित्र के अस्त्रों का कोई भी प्रभाव वशिष्ठ के

ऊपर न हुआ। वशिष्ठ ने विश्वामित्र के सभी अस्त्रों को विफल कर दिया और अन्त में वशिष्ठ के ब्रह्मतेज की विजय हुई और विश्वामित्र फिर हार गये। इस हार से विश्वामित्र अत्यन्त लज्जित हुए और बोले 'मेरे क्षत्रिय बल को धिक्कार है। वास्तव में ब्रह्मबल (ब्राह्मण का बल) ही प्रधान और सर्वशक्तिमान है। अब मैं ऐसी तपस्या करूँगा, जिससे ब्राह्मणत्व प्राप्त हो।'।

अन्त में विश्वामित्र अपनी रानी को साथ लेकर फिर तप करने दक्षिण दिशा में चले गये और हजार वर्ष तक तप किया। ब्रह्माजी प्रसन्न हुए और दर्शन दिया। ब्रह्माजी बोले 'मैं समझ गया कि तुम सच्चे राजर्षि हो। मैं तुमसे प्रसन्न हूँ।' ब्रह्माजी अन्तर्धान हो गये। विश्वामित्र को बड़ा क्रोध आया और सोचने लगे कि 'मैंने इतनी कठोर तपस्या की, पर अभी तक ऋषियों और देवताओं ने मुझे राजर्षि ही माना है, इससे ज्ञात होता है कि अभी मेरा तप सफल और पूर्ण नहीं हुआ।' और विश्वामित्र फिर तप में लीन हो गये।

इसी समय इक्ष्वाकुवंशी राजा त्रिशंकु ने निश्चय किया कि मैं ऐसा यज्ञ करूँगा कि जिससे सदेह स्वर्ग को चला जाऊँ। त्रिशंकु ने वशिष्ठ से यज्ञ सम्पन्न करने की प्रार्थना की। महर्षि वशिष्ठ ने इसे असंभव कहकर इनकार कर दिया। इसके बाद त्रिशंकु वशिष्ठ के पुत्रों के पास पहुँचे। वशिष्ठ के पुत्र तप कर रहे थे। त्रिशंकु ने उनसे प्रार्थना की कि वे इनका यज्ञ सम्पन्न कर दें। जब वशिष्ठ के पुत्रों ने देखा कि पिता वशिष्ठ ने ऐसा यज्ञ करने से इनकार कर दिया है तो उन्हें क्रोध आ गया और बोले 'जब वशिष्ठ ने इनकार कर दिया तो आप हमारे पास क्यों आये? इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के गुरु वे ही हैं। उनके इनकार करने पर कोई उस यज्ञ को सम्पन्न नहीं कर सकता। हम लोग उनकी बात नहीं टाल सकते।'।

तब त्रिशंकु ने फिर हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि 'यदि आप लोग मेरा यज्ञ सम्पन्न नहीं कर सकते तो मैं किसी अन्य गुरु की शरण में जाऊँगा।' त्रिशंकु के ऐसे दुष्ट अभिप्राय को सुनकर गुरुपुत्रों ने शाप दिया 'कि तू अभी चाण्डाल हो जा।' राजा त्रिशंकु तुरन्त काले वर्ण के चाण्डाल हो गये और सीधे विश्वामित्र के पास पहुँचे। विश्वामित्र ब्राह्मणत्व पद प्राप्त करने की समाधि में लीन थे। त्रिशंकु ने उनसे वशिष्ठ के इनकार और उनके पुत्रों के

शाप तथा अपने स्वर्ग जाने के यज्ञ आदि का पूरा वृत्तान्त निवेदित किया। विश्वामित्र के मन में वशिष्ठ के प्रति शत्रुता की गाँठ तो थी ही, वे तुरन्त तैयार हो गये और बोले 'राजन् ! आप ध्वरायें नहीं, मैं आपका यज्ञ सम्पन्न करूँगा और आपको इसी शापित चाण्डाल-शरीर से ही सदेह स्वर्ग भेज दूँगा।' राजा अत्यन्त प्रसन्न हुए और यज्ञ की तैयारी करने लगे। इधर विश्वामित्र ने अपने पुत्रों को यज्ञ की सामग्री जुटाने में नियुक्त कर दिया। चारों ओर ऋषियों और ब्राह्मणों को यज्ञ में आने के लिए निमंत्रित कर दिया गया। वशिष्ठ के यहाँ भी दूत गये। दूतों ने आकर विश्वामित्र से कहा "राजर्षि, सभी ब्राह्मण तो आ रहे हैं, पर वशिष्ठजी ने इनकार कर दिया है और उनके सौ पुत्रों ने कहा है कि—'उस चाण्डाल के यज्ञ को करानेवाला नीच क्षत्रिय है। भला क्षत्रिय और चाण्डाल के यज्ञ में ब्राह्मण कैसे हविष ग्रहण करेंगे।'"

विश्वामित्र को क्रोध आ गया और आँखें लाल करके शाप दिया कि 'वे सभी पुत्र अभी इसी दम भस्म हो जायँगे और कालपाश में बँध यमपुरी चले जायँगे। इसी प्रकार सात जन्म तक उनकी दुर्दशा होगी और मुर्दे खायँगे। वे सब कुत्तों का मांस खाते हुए पृथ्वी पर ठोकर खायँगे। उस दुर्बुद्धि महोदय ने मेरा तिरस्कार किया है, इसलिए वह निषाद वंश में जन्म पायेगा और क्रूर कर्म करता हुआ अधम माना जायगा।'।

यज्ञ प्रारम्भ हो गया। बहुत दिनों तक प्रतीक्षा की, पर देवता लोग भी यज्ञ में भाग लेने के लिए न आये। विश्वामित्र पुनः क्रोधित हुए और कहा— 'हे नरपति ! मैंने तप से तेजोबल संचित किया है। मैं तुम्हें सशरीर स्वर्ग भेज रहा हूँ, देखता हूँ कौन रोक पाता है ? तुम सीधे स्वर्ग को प्रस्थान करो।' अब राजा त्रिशंकु विश्वामित्र के बल-प्रभाव से स्वर्ग की ओर चले। त्रिशंकु को सशरीर चाण्डाल-वेष में स्वर्ग आते देखकर सभी देवताओं सहित इन्द्र ने उससे कहा 'हे त्रिशंकु ! तुम कहाँ आ रहे हो। तुम्हारे लिए स्वर्ग में कोई स्थान नहीं है, इसलिए लौट जाओ। तू गुरुशाप से मूढ़ हो गया है, इसलिए नीचे को सिर किये हुए भूमि पर गिर जा।' अब तो त्रिशंकु नीचे को सिर किये हुए भूमि की ओर चला और चिल्लाकर विश्वामित्र से कहा 'बचाओ, मेरी रक्षा करो।'।

त्रिशंकु की आर्त वाणी सुनकर विश्वामित्र ने कहा 'वहीं ठहरो, ठहरो।' ऐसा कहकर विश्वामित्र ने दक्षिण दिशा में स्थित रहनेवाले सप्तऋषियों की रचना कर डाली और इसी प्रकार अन्य ऋषियों तथा नक्षत्रों को रच करके एक दूसरा ही स्वर्ग रचने का उपक्रम करने लगे। इसके बाद वे परम क्रुद्ध होकर बोले 'या तो मैं इन्द्र को भी नहीं रहने दूँगा या दूसरे ही इन्द्र की रचना कर डालूँगा' और उसी क्रोध में आकर विश्वामित्र ने अपने योगबल से देवताओं की रचना करना प्रारम्भ कर दिया।

तब सब देवता, ऋषि और असुर महात्मा विश्वामित्र के पास आये और विनीत होकर कहने लगे—'हे महाभाग ! त्रिशंकु गुरुशप से कलंकित हो चुका है, इसलिए स्वर्ग में रहने का अधिकारी नहीं है। तब मुनिपुंगव विश्वामित्र ने कहा 'देवताओ ! मैंने त्रिशंकु को सदेह स्वर्ग भेजने की प्रतिज्ञा कर ली है, इसलिए अब वह भूठ नहीं हो सकती है। त्रिशंकु स्वर्ग जाकर ही रहेंगे। यह त्रिशंकु अब इसी शरीर से मेरे द्वारा रचित स्वर्ग में सदा रहेगा। वहाँ मैं दूसरे नक्षत्रों और भ्रवों की सृष्टि कर दूँगा। जब तक सब लोक रहेंगे, तब तक मेरी भी सृष्टि की सब चीजें रहेंगी। हे देवगण ! आप सब मेरे इस कार्य का समर्थन करके मेरे ऊपर कृपा करें।' तब सब देवताओं ने कहा 'ऐसा ही होगा' और सभी देवता अपने लोक चले गये। त्रिशंकु की इच्छा पूर्ण हुई और अब वे विश्वामित्र द्वारा रचित स्वर्ग में नीचे को सिर किये हुए निवास करने लगे। विश्वामित्र पुनः समाधि में लग गये और ब्राह्मण पद प्राप्त करने के लिए तप करने लगे। दक्षिण दिशा में बाधा देखकर विश्वामित्र पुष्कर क्षेत्र में जाकर तप करने लगे।

इन्हीं दिनों अयोध्या के राजा अम्बरीष ने यज्ञ आरम्भ किया, परन्तु विघ्न डालने के लिए यज्ञपशु को इन्द्र छिपकर हर ले गये। अब ऋषियों ने राजा से कहा 'हे राजन् ! आपकी दुर्नीति से ही यज्ञपशु गायब हो गया है इसलिए या तो वही यज्ञपशु अथवा कोई मनुष्य ही बलि के लिए लाइये अन्यथा यज्ञ विध्वंस हो जायगा।' पशु की बड़ी खोज हुई, पर वह मिल न सका। तब राजा अम्बरीष ने महर्षि ऋचीक के पुत्र शुनःशेप को ऋचीक को अपार धन देकर खरीद लिया और यज्ञ की ओर चल पड़े। पुष्कर तीर्थ में

पहुँचकर राजा अम्बरीष विश्राम करने लगे। उसी स्थान पर शुनःशेष ने अपने मामा महामुनि विश्वामित्र को देखा। डरा हुआ बालक शुनःशेष विश्वामित्र की गोद में जा बैठा और दुःखी होकर बोला 'मेरी रक्षा कीजिये। पिता ने मुझे बेच दिया है। आप ऐसा कुछ उपाय कीजिये, जिससे राजा अम्बरीष का यज्ञ भी हो जाय और मुझे स्वर्ग भी प्राप्त हो जाय।'।

विश्वामित्र ने अपने पुत्रों से कहा 'पुत्रो, पिता का ऋण चुकाने का अवसर आ गया है। तुम सभी यज्ञपशु बनकर राजा का यज्ञ सम्पन्न करो जिससे इस बालक की रक्षा भी हो जाय और हमारी बात भी रह जाय।' पुत्रों ने इनकार कर दिया तो विश्वामित्र ने अपने पुत्रों को भी शाप दे दिया और शुनःशेष को एक मंत्र बता दिया, जिसके प्रभाव से उसके प्राण भी बच गये और अम्बरीष का यज्ञ भी हो गया। इतना कार्य करने के बाद विश्वामित्र फिर तपस्या में लग गये।

हजार वर्ष तक तपस्या करने के बाद पुनः देवता लोक प्रकट हुए और उन्हें 'ऋषि' पद प्रदान करके चले गये। विश्वामित्र को अब भी सन्तोष न हुआ। उन्होंने समझा कि उनकी तपस्या अभी पूर्ण नहीं है, अन्यथा उन्हें ब्राह्मण पद मिल जाता। यह सोचकर पुनः वे तप करने लगे। इसी बीच इन्द्र आदि देवताओं को विश्वामित्र की तपस्या से बड़ा सन्ताप होने लगा और विश्वामित्र का तप भंग करने के लिए देवताओं ने मेनका नाम की अप्सरा को विश्वामित्र के आश्रम के पास भेजा। मेनका ने दस वर्षों तक विश्वामित्र के तप को खंडित किया। इसके बाद इन्द्र ने रम्भा नाम की अप्सरा को भेजा। रम्भा ने विश्वामित्र को काम-पीड़ित करना चाहा। विश्वामित्र इन्द्र की चाल को समझ गये और रम्भा को शाप दिया कि 'तू पत्थर हो जा। वशिष्ठ के हाथों तेरा उद्धार होगा।' इतना कहने के बाद विश्वामित्र ने निश्चय किया कि 'अब मैं किसी पर न क्रोध करूँगा और न किसी से बोलूँगा। इन्द्रियों पर विजय न पाने के कारण मेरी तपस्या पूर्ण नहीं हो पा रही है।' यह निश्चय करके विश्वामित्र फिर तप में लग गये।

इस बार उत्तर दिशा में तप करने लगे। देवताओं ने नाना प्रकार से उनकी परीक्षा ली और उन्हें सिद्ध पाया। तब विश्वामित्र ने श्वाँस रोककर

तपस्या प्रारम्भ की। देवता लोग प्रसन्न हुए और ब्रह्माजी से प्रार्थना की कि विश्वामित्र अब ब्राह्मणत्व प्राप्त करने योग्य हो गये हैं। तब ब्रह्माजी प्रकट हुए और विश्वामित्र से कहा 'उठो कौशिक, तुम्हें ब्राह्मण पद प्राप्त हो गया और हम तुम्हें दीर्घायु का भी वर देते हैं।' विश्वामित्र ने कहा 'यदि ऐसा ही है तो कृपा करके मुझे ब्रह्मज्ञान का साधन स्वरूप ओंकार, यज्ञ का साधन स्वरूप वषट्कार और उनके अंगपांग के स्वरूप वेदों को भी दें। मैं धनुर्वेदज्ञों तथा ब्रह्मज्ञानियों में भी श्रेष्ठ बनकर रहूँ। और वशिष्ठ मुझे 'ब्रह्मपुत्र' कहकर पुकारें।' देवताओं ने 'एवमस्तु' कहा। इसके बाद देवताओं ने वशिष्ठ को भी समझाया-बुझाया तथा विश्वामित्र और वशिष्ठ की मित्रता करा दी। अब विश्वामित्र की कामना पूर्ण हुई और दोनों ब्रह्मर्षि प्रेम से रहने लगे।

परिशिष्ट

कुछ ज्ञातव्य शब्द परिचय

१. अवतार—२४ माने गये हैं । १ सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सनातन; २ वाराह; ३ देवर्षि नारद; ४ नर-नारायण; ५ कपिल; ६ दत्तात्रेय; ७ यज्ञपुरुष; ८ ऋषभदेव; ९ पृथु; १० मत्स्य; ११ कच्छप; १२ धन्वन्तरि, १३ मोहिनी रूप; १४ नरसिंह; १५ वामन; १६ परशुराम; १७ व्यास; १८ रामचन्द्र; १९ कृष्ण; २० बलराम; २१ बुद्ध; २२ कलियुग में कल्कि भगवान्; २३ हंस और २४ हयग्रीव-इन २४ रूपों में भगवान् प्रकट हुए । और इसी प्रकार प्रकट होते रहेंगे ।
२. अग्नि—साधारणतया ३ मानी जाती है । १ दावाग्नि जो जंगल और घर में पायी जाती है; २ जठराग्नि जो पेट के अन्दर मेदे में पायी जाती है और ३ बडवाग्नि जो जल और समुद्र में पायी जाती है ।
३. अग्नित्रय—१ दक्षिणाग्नि; २ गार्हपत्य, ३ आहवनीय ।
४. अवस्था—दो अर्थ हैं । एक अर्थ से १ जाग्रत्, २ स्वप्न, ३ सुषुप्ति, ४ तुरीय—ये चार हैं । दूसरे अर्थ में १ बाल्यावस्था, २ युवावस्था और ३ वृद्धावस्था—ये तीन हैं ।
५. अविद्या—ईश्वर की मोह-माया शक्ति ।
६. अष्टसिद्धि—१ अणिमा, २ महिमा, ३ लघिमा, ४ गरिमा, ५ प्राप्ति, ६ प्राकाम्य, ७ ईशत्व, ८ वशित्व हैं ।
७. आकर—४ हैं । १ जरायुज (योनि से पैदा होनेवाले मनुष्य पशु आदि) २ अण्डज (अण्डे से पैदा होनेवाले प्राणी । ३ स्वेदज जैसे (लीख जुआँ आदि) । ४ उद्भिज्जज (वृक्ष आदि वनस्पति) ।

८. आभरण—१२ हैं । १ नूपुर, २ चूड़ी, ३ हार, ४ कंकण, ५ अँगूठी, ६ बाजूबन्द, ७ वेसर, ८ बिरिया, ९ टीका, १० शीशफूल, ११ तावड़ी, और कंठश्री वारहवाँ है ।

९. आश्रम—४ हैं । १ ब्रह्मचर्य, २ गृहस्थ, ३ वानप्रस्थ, ४ संन्यास ।

१०. उपवेद—४ हैं । १ आयुर्वेद, २ धनुर्वेद, ३ गांधर्व वेद, ४ स्थापत्य वेद ।

११. ऋतु—६ हैं । १ शिशिर, २ वसन्त, ३ ग्रीष्म, ४ वर्षा, ५ शरद, ६ हेमन्त ।

१२. कला—६४ हैं । १ गानविद्या, २ वाद्य, ३ नृत्य, ४ नाट्य, ५ चित्रकारी, ६ वेलवूटे, ७ चावल और पुष्पों से उपहार बनाना, ८ फूलों की सेज लगाना, ९ दाँत, वस्त्र, अंग रँगना, १० मणियों का फर्श बनाना, ११ शय्या रचना, १२ जल बाँध देना, १३ सिद्धियाँ दिखलाना, १४ हार माला बनाना, १५ कान और चोटी के फूलों के गहने बनाना, १६ कपड़े और गहने बनाना, १७ फूलों के गहनों से शृङ्गार करना, १८ कानों के पत्तों की रचना करना, १९ सुगन्धित वस्तुयें—इत्र, तेल आदि बनाना, २० जादूगरी, २१ इच्छानुसार वेष धारण कर लेना, २२ हाथ सफाई के काम, २३ खाने की वस्तुयें बनाना, २४ पीने के पेय पदार्थ बनाना, २५ सुई का काम, २६ कठपुतली बनाना, २७ पहेली, २८ मूर्ति आदि बनाना, २९ कूटनीति, ३० ग्रन्थ पढ़ाने की चतुराई, ३१ नाटक, कहानी आदि बनाना, ३२ समस्या पूर्ति करना, ३३ पट्टी, बेंत, बाण आदि बनाना, ३४ गलीचे दरी आदि बनाना, ३५ बढईगरी, ३६ गृहनिर्माण, ३७ सोने, चाँदी, हीरे आदि को परखना, ३८ सोना-चाँदी आदि बना लेना, ३९ मणियों के रंग को पहचानना, ४० खानों की पहचान, ४१ वृत्तों की चिकित्सा, ४२ भेड़ा, मुर्गी, बटेर आदि की लड़ाई की कला, ४३ तोता-मैना आदि की बोलियाँ बोलना, ४४ उच्चाटन की विधि, ४५ केशों की सफाई का कौशल, ४६ मुट्ठी की चीज या मन की बात बता देना, ४७ म्लेच्छ काव्यों का समझ लेना, ४८ विभिन्न देशों की भाषा का

ज्ञान, ४६ शकुन-अपशकुन जानना, ५० मातृका यंत्र बनाना, ५१ रत्नों को नाना प्रकार के आकारों में काटना, ५२ सांकेतिक भाषा बनाना, ५३ मन में कटक रचना करना, ५४ नई-नई बातें निकालना, ५५ छल से काम बना लेना, ५६ समस्त कोशों का ज्ञान, ५७ समस्त छन्दों का ज्ञान, ५८ वस्त्रों को छिपाने या बदलने की विद्या, ५९ द्यूत क्रीड़ा (जुआ खेलना), ६० दूर के मनुष्य या वस्तुओं का आकर्षण कर लेना, ६१ बालकों के खेल, ६२ मंत्रविद्या, ६३ विजय प्राप्त करने की विद्या, ६४ वेताल आदि को वश में करने की विद्या ।

१३. कल्प—चार युगों की एक चौकड़ी और हजार चौकड़ी का एक कल्प ।
१४. गुण—३ हैं । १ रजोगुण, २ तमोगुण, ३ सतोगुण ।
१५. गुरु—३ हैं । १ माता, २ पिता, ३ आचार्य (अध्यापक) ।
१६. चतुरंगिणी सेना—१ हाथी की, २ रथ की, ३ घोड़ों की, ४ पैदल की सेना ।
१७. चतुर्गुण—४ हैं । १ साम, २ दाम, ३ दण्ड, ४ भेद ।
१८. चतुर्युग—१ सत्ययुग, २ त्रेतायुग, ३ द्वापर, ४ कलियुग ।
१९. चतुर्वर्ग—चार हैं । १ धर्म, २ अर्थ, ३ काम, ४ मोक्ष ।
२०. चार शत्रु—चार—१ काम, २ क्रोध, ३ मोह, ४ लोभ ।
२१. चार वर्ण—१ ब्राह्मण, २ क्षत्रिय, ३ वैश्य, ४ शूद्र ।
२२. त्रिताप—१ दैहिक, २ दैविक, ३ भौतिक (आध्यात्मिक, आधिभौतिक आधिदैविक) ।
२३. त्रिदेव—१ ब्रह्मा, २ विष्णु, ३ महेश (शंकर) ।
२४. त्रिविध कर्म—१ संचित, २ प्रारब्ध, ३ क्रियमाण ।
२५. त्रिविध श्रोता—१ मुमुक्षु, २ मुक्त, ३ विषयी ।
२६. त्रिविध समीर—१ शीतल, २ मन्द, ३ सुगन्ध ।
२७. तीन ईषणा—१ लोकप्रसिद्धि, २ धनराज्यादि, ३ स्त्री-पुत्र ।
२८. दिक्पाल—इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, अग्नि, राक्षस, वायु, शिव ।

२००

पौराणिक कथायें

२९. द्वीप—७ हैं । १ जम्बू, २ शाक, ३ कुश, ४ क्रौंच, ५ पुष्कर, ६ शाल्मली, ७ गोमेद ।
३०. नरक—२८ हैं ।
३१. नवगुण—१ धृति, २ क्षमा, ३ दम, ४ अस्तेय, ५ शौच, ६ इन्द्रियनिग्रह ७ ज्ञान, ८ विद्या, ९ सत्य ।
३२. नवरस—१ शृङ्गार, २ करुण, ३ हास्य, ४ वीर, ५ रौद्र, ६ वीभत्स ७ भयानक, ८ शान्त, ९ अद्भुत (१० वात्सल्य और ११ भक्ति रस भी अलग मान लिये गये हैं)
३३. नवखण्ड—१ इलावृत्त, २ रम्यक, ३ हिरण्यमय, ४ कुरु, ५ हरि, ६ भारत, ७ केतुमाल, ८ भद्राश्व, ९ किंपुरुष ।
३४. पञ्चतत्त्व—५ हैं । १ पृथ्वी, २ आकाश, ३ अप् (जल), ४ तेज (अग्नि), ५ वायु ।
३५. पञ्चपवन—५ हैं । १ प्राण, २ अपान, ३ उदान, ४ व्यान, ५ समान ।
३६. पञ्चमहायज्ञ—५ हैं । १ वेदपाठ, २ तर्पण, ३ हवन, ४ वलिवैश्वदेव, ५ आतिथ्यसत्कार ।
३७. पुराण—१८ हैं । १ ब्रह्म पुराण, २ पद्म पुराण, ३ विष्णु पुराण, ४ शिव पुराण, ५ श्रीमद्भागवत पुराण, ६ नारद पुराण, ७ मार्कण्डेय पुराण, ८ अग्नि पुराण, ९ भविष्य पुराण, १० ब्रह्मवैवर्त पुराण, ११ लिंग पुराण, १२ वाराह पुराण, १३ स्कन्द पुराण, १४ वामन पुराण, १५ कूर्म पुराण, १६ मत्स्य पुराण, १७ गरुड पुराण, १८ ब्रह्माण्ड पुराण ।
३८. भक्ति—६ प्रकार की । १ श्रवण, २ कीर्तन, ३ अर्चन, ४ वन्दन, ५ चरणसेवा, ६ स्मरण, ७ आत्मनिवेदन, ८ दासत्व, ९ सख्य ।
३९. भक्त—५ प्रकार के । आर्त, २ जिज्ञासु, ३ अर्थार्थी, ४ विज्ञान, ५ निवास ।
४०. मद—६ प्रकार के । १ जातिमद, २ कुलमद, ३ युवावस्थामद, ४ रूप-मद, ५ विद्यामद, ६ ज्ञानमद, ७ ध्यानमद, ८ धनमद, ९ राजमद ।
४१. युग—४ हैं । १ सत्ययुग, २ त्रेतायुग, ३ द्वापर युग, ४ कलियुग ।

४२. योनि—८४ लाख हैं । ६ लाख जलचर, ४ लाख मनुष्य, २७ लाख स्थावर, ११ लाख कृमि, १ लाख पक्षी, २३ लाख चौपाये ।
४३. लोक—१४ हैं । १ तल, २ अतल, ३ वितल, ४ सुतल, ५ रसातल, ६ तलातल, ७ पाताल, ८ भूलोक, ९ भुवलोक, १० स्वर्गलोक, ११ महर्लोक, १२ जनलोक, १३ तपोलोक, १४ सत्यलोक ।
४४. विद्या—१४ हैं । १ ब्रह्मज्ञान, २ अध्ययन, ३ वेद, ४ वैद्यक, ५ ज्यौतिष, ६ व्याकरण, ७ विद्या, ८ जल में तैरना, ९ संगीत, १० नाटक, ११ अश्वारोहण, १२ क्रीडाशास्त्र, १३ कृषि, १४ न्याय ।
४५. वेद—चार हैं । १ ऋग्वेद, २ यजुर्वेद, ३ सामवेद, ४ अथर्ववेद ।
४६. वेदांग—६ हैं । १ शिद्धा, २ कल्प, ३ व्याकरण, ४ निरुक्त, ५ छन्द, ६ ज्यौतिष ।
४७. शास्त्र—६ हैं । १ सांख्य, २ योग, ३ वेदान्त, ४ मीमांसा, ५ न्याय, ६ वैशेषिक ।
४८. शृङ्गार—१६ हैं । १ अंगशुचि, २ मञ्जन, ३ दिव्य वस्त्र, ४ महावर, ५ केश सँवारना, ६ माँग में सिन्दूर, ७ ठोड़ी पर तिल, ८ माथे में बिन्दी, ९ मेंहदी, १ अरगजा लेप, ११ भूषण, १२ सुगंध, १३ मुख-राग, १४ दन्तराग, १५ अधरराग, १६ कज्जल ।
४९. पडरस—६ हैं । १ कटु, २ तीखा, ३ अम्ल, ४ मधुर, ५ कषाय, ६ लवण ।
५०. सप्तर्षि—७ हैं । १ वशिष्ठ, २ अत्रि, ३ कश्यप, ४ विश्वामित्र, ५ भरद्वाज, ६ जमदग्नि, ७ गौतम ।
५१. सप्तावरण—७ हैं । १ जल, २ पवन, ३ अग्नि, ४ आकाश, ५ अहंकार, ६ पञ्चतन्मात्रा, ७ महत्तत्त्व ।

कलाविलासिनी वासवदत्ता

श्री देवदत्त शास्त्री

- * कला ही जीवन है और जीवन ही कला है। जो जीवन और कला की उपासना संयुक्तरूप में करता है वही कलाकार है, वही जीने की कला जानता है। इसी सिद्धान्त का व्यावहारिक विवेचन इस पुस्तक की कलामयी रोचक कहानियों में है।
- * प्राचीन भारत के नागरक की दिनचर्या, उसकी कलाप्रियता और उसका मुस्कराता हुआ जीवन-दर्शन गवाक्ष बनी हुई इन कहानियों से झॉकता है।
- * अपने समय की बेजोड़ रमणी महारानी वासवदत्ता के मोहक कलाविलास का परिचय कौमुदीमहोत्सव, मदनमहोत्सव जैसे उत्सवों, सरस्वती पूजन, काव्य-संगीत-गोष्ठियों और रंगरूप के कलात्मक आयोजनों से प्राप्त करेंगे।
- * दाम्पत्य जीवन, सपत्नी जीवन, निराश, पराजित जीवन को सुखद, प्राणद और प्रेरक बनाने की कला मधुर, मोहक कथाओं द्वारा सिखाती है कला-विलासिनी वासवदत्ता।
- * कलाविलासिनी वासवदत्ता से हमें कभी न झुकने वाला, कभी न कुंठित होने वाला कलात्मक स्वाभिमान मिलता है और मिलती है देश के प्रति, देव के प्रति तथा देह के प्रति एक आस्था, एक निष्ठा और कभी न सूखने वाली आनन्द की निर्झरिणी।

इस युग के भारतीय नागरक की दिनचर्या और रात्रिचर्या तक में कलाओं का प्रभाव और प्राधान्य था। इतिहास द्वारा उपेक्षित उदयन और वासवदत्ता इस युग के ऐसे दो ध्रुव हैं जहाँ पर चौंसठ कलाओं का अस्तित्व और विकास निहित रहा है।

कलाविलासिनी महारानी वासवदत्ता की कलाविलासिता में भोग और योग का पूर्ण समन्वय था। उनकी मुस्कराती हुई जिन्दगी ने कला को नई मुस्कान, नई प्रेरणा देकर भारतीय नागरिक जीवन को ऐसा कलाविलास दिया जिससे हमारी संस्कृति, हमारा साहित्य अनुप्राणित हुआ।

मूल्य २-५०

चौखम्बा विद्याभवन, पो० बा० ६६, वाराणसी-१

हिन्दी चारुचर्या (भारतीय सदाचार, शिष्टाचार) सम्पादक : श्री देवदत्तशास्त्री

केवल सौ अनुष्टुप् श्लोकों का हिन्दी रूपान्तर यह छोटी-सी पुस्तक भारतीय सदाचार, एवं शिष्टाचार का कोष है। समाज में रहते हुए व्यक्ति जिन आचरणों और व्यवहारों से सामाजिक अभ्युदय प्राप्त कर जीवन का लक्ष्य प्राप्त करता है—उनका एकत्र समुच्चय इस पुस्तक में है।

मूल श्लोकों की हिन्दी टीका के साथ जो तात्पर्यात्मक हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत की गई है, वह युग-धर्म के अनुकूल और लोकप्रयोगी है। प्राथमिक एवं माध्यमिक विद्यालयों के विद्यार्थियों को सदाचार एवं शिष्टाचार-सम्बन्धी शिक्षा प्रदान करने के लिए यह पुस्तक नितान्त उपयोगी है। सरल भाषा और मोहक शैली इस पुस्तक की प्रमुख विशेषता है।

मूल्य २-००

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी-१